प्रकाशकः—
विहारीलाल कठनेरा जैन,
मालिक,
जैनसाहित्य-प्रसारक कार्यालय,
हीरावाग, गिरगांव—बम्बई ।

मुद्रकः—
विनायक बाळकृष्ण परांजपे,
नेटिव ओपिनियन प्रेस,
गिरगांव, बम्बई नं० ४

प्रस्तावना ।

(प्रथमावृत्तिसे उद्धृत ।)

द्रव्यसंग्रह यद्यपि ५८ गाथाका छोटासा ग्रन्थ है, परन्तु आचार्य श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इस छोटेसे ग्रथमें ही जैन सिद्धान्तका बहुत बड़ा सार भर दिया है । यह ग्रन्थ भाषा कवितामें भी रचा गया है । तत्त्वार्थ कथनको कण्ठ करनेके वास्ते भाषाद्रव्यसंग्रह हमारे जैनी भाइयोंमें बहुत प्रसिद्ध है । हमारे नवयुवकोंको ऐसी पुस्तककी बहुत तलाश थी जो बहुत विस्ताररूप न हो और जिसका स्वाध्याय करनेसे जैन तत्त्वार्थ बहुत आसानीसे समझमें आजावे । अपने भाइयोंकी इस जरूरतको पूरा करनेके वास्ते हमने यह टीका लिखी है । हम आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ बहुत ही आसानीसे सब भाइयोंकी समझमें आवेगा और इस ग्रन्थको पढ लेने पर फिर अन्य किसी भी जैन ग्रन्थकी स्वाध्याय करनेमें मुश्किल नहीं पडेगी ।

इस टीकाके लिखनेमें हमने इस बातका बहुत ज्यादा ख्याल रक्खा है कि जैनधर्मके मोटे मोटे सब ही विषय इसमें आजावें और उनका स्वरूप भी सबकी समझमें आसके । इस कारण जैनधर्मको जाननेके वास्ते यदि इस पुस्तकको प्रथम पुस्तक कहा जावे तो बेजा नहीं है । आशा है कि इस पुस्तकका बहुत प्रचार होगा और इसके द्वारा हमारे बहुतसे भाई जैनधर्मके जानकार बनेंगे ।

इस ग्रन्थकी टीका लिखनेमें हमको बाबू जुगलकिशोर मुख्तार देवबन्द सम्पादक ‘ जैनगजट ’ से बहुत मदद मिली है और उन्हींके द्वारा इसका संशोधन भी हुआ है । अतः हम उनको धन्यवाद देते है ।

अन्तमें हम विद्वानोंसे प्रार्थना करते है कि इस टीकामें जहा कहीं कुछ भी अशुद्धि हो उससे हमें तुरन्त सूचित करें, ताकि आगामी आवृत्तिमें वे सब अशुद्धिया ठीक कर दी जावें ।

देवबन्द (सहारनपुर) }
ता० २८–७–०९ ई० }

सूरजभानु वकील ।

मेरा निवेदन ।

आजसे सत्रह वर्ष पहले माननीय बाबू सूरजभानुजी वकीलने स्व-स्थापित श्रीजैनसिद्धान्तप्रचारक मंडली देवबन्दकी तरफसे इसे प्रकाशित किया था । उस आवृत्तिके बिक जानेके पश्चात् कई वर्षोंसे यह अप्राप्य था । प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने एक वार मुझसे इसके प्रकाशित होनेकी आवश्यकता प्रकट की । उसके कुछ समय बाद श्रीमान् पं० गोविंदरामजी काव्यतीर्थ शास्त्री श्री दि० जैन संस्कृत विद्यालय धारने विद्यार्थियोंको पढानेके लिये मुझसे इसीकी मांग की । उन्होंने लिखा कि विद्यार्थियोंको इसके पढ़ानेसे द्रव्य-संग्रहमें अच्छा बोध हो सकता है । इसलिये मैंने इसे प्रकाशित करना आवश्यक समझा ।

इसमें जैनधर्मके मुख्य २ सब ही विषयोंका सरल भाषामें संक्षिप्त, किंतु स्पष्ट वर्णन किया गया है । इसका ध्यानपूर्वक स्वाध्याय कर लेनेसे जैनधर्मके अभ्यासियोंका जैन शास्त्रोंमें प्रवेश सरल हो सकता है । आशा है, अन्यान्य जैन विद्यालयोंके अध्यापक भी इसकी उपयोगिताका अनुभव करेंगे, और वे विद्यार्थियोंके लिये इसमें जो २ बातें बढाना आवश्यक समझें उनसे मुझे सूचित करेंगे, ताकि आगामी आवृत्तिमें उन बातोंकी पूर्ति करा दी जावे ।

स्व० पंडित द्यानतरायजीका भाषा-द्रव्यसंग्रह भी मैंने इसके अंतमें लगा दिया है । इसे मैंने जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालयकी तरफसे पूर्वमें प्रकाशित अन्वयार्थ सहित द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत किया है, अतः मैं उसके सम्पादक महाशयका कृतज्ञ हूं ।

श्रीमान् बाबू सूरजभानुजी वकीलका जैन समाज हमेशा कृतज्ञ रहेगा, जिन्होंने द्रव्य-संग्रहकी ऐसी उपयोगी टीका लिखकर स्वयं एक वार प्रकाशित करा दी । उन्होंने मुझे इसके पुनर्मुद्रणकी पूर्ण उदारता-पूर्वक जो आज्ञा दी उसके लिये उन्हें अनेकशः धन्यवाद है ।

निवेदक–**बिहारीलाल कठनेरा** ।

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति विरचित

द्रव्य-संग्रह ।

मंगलाचरण ।

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

अर्थ—मैं सदा अपने मस्तकसे उसको नमस्कार करता हूं जो जिनवरोंमें प्रधान है, जिसने जीव और अजीव द्रव्यका व्याख्यान किया है और जो देवोंके समूहसे वंदना किया जाता है ।

भावार्थ—'जिन' शब्दका अर्थ है जीतने वाला—मिथ्यात्व और रागादिकके जीतने वालेको 'जिन' कहते हैं। इस हेतु अव्रतसम्यग्दृष्टि, व्रतीश्रावक और मुनि भी एकदेशी जिन कहे जा सक्ते हैं । इनमें गणधर आदि श्रेष्ठ जिन अर्थात् जिनवर है । इनके भी प्रधान श्रीतीर्थंकर देव हैं, जिनको इन्द्र भी वंदना करते हैं। उन्हीं श्रीतीर्थंकर भगवानको इस गाथामे नमस्कार किया है। वेही धर्म-तीर्थके चलाने वाले हैं । वस्तु-स्वभावका नाम धर्म है। वस्तु दो प्रकार की हैं-एक जीव और दूसरी अजीव । इन्हीं दोनो

प्रकारकी वस्तुओंका भिन्न भिन्न स्वभाव श्रीतीर्थंकर भगवानने वर्णन किया है, जिससे जीवोका मिथ्यात्व-अंधकार दूर होकर वस्तुका सत्य स्वरूप ज्ञात हुआ है और सत्य धर्मकी प्रवृत्ति हुई है। इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवानके स्मरणार्थ श्रीनेमिचंद्राचार्यने यह मंगलाचरण किया है।

इस ग्रन्थका प्रयोजन भी जीव और अजीवके सत्य स्वरूपको श्रीतीर्थंकर भगवानकी वाणीके अनुसार वर्णन करना ही है।

प्रथम अधिकार।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव है, उपयोगमय है, अमूर्त्तीक है, कर्त्ता है, अपनी देह-परिमाण है, भोक्ता है, संसारमें स्थित होनेवाला है, सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, वह जीव है।

भावार्थ—इस गाथामे समुच्चयरूप जीवके ९ प्रकारके गुणोंका वर्णन किया है। आगामी गाथाओंमें प्रत्येक गुणकी भिन्न २ व्याख्या की गई है। इस हेतु यहां इनका भावार्थ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

(१) जीव है—इसका वर्णन गाथा ३ में है। (२) उपयोगमय है—इसका वर्णन गाथा ४, ५, ६ में है। (३) अमूर्त्तीक है—इसका वर्णन गाथा ७ मे है। (४) कर्त्ता है—इसका वर्णन गाथा ८ में है। (५) भोक्ता है—इसका वर्णन गाथा ९ में है। (६) देह-परिमाण है—इसका वर्णन गाथा १० मे है। (७) संसारमे स्थित है—इसका वर्णन गाथा ११, १२, १३ में है। (८, ९) सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन-स्वभावी है—इन दोनों विषयोका वर्णन गाथा १४ में है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

अर्थ–जो तीन काल अर्थात् सदा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोश्वास–इन चारों प्राणों सहित रहता है, व्यवहार-नयसे वह जीव है । और निश्चय-नयसे जिसके चेतना है वह ही जीव है ।

भावार्थ–किसी दूसरी वस्तुकी मिलावट वा अपेक्षाके विना वस्तुके असली स्वभावको वर्णन करना निश्चय-नय कहाती है। और किसी दूसरी वस्तुसे मिलकर जो वस्तुका रूप हो जाता है उस रूपको वर्णन करना वा किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षासे कथन करना व्यवहार-नय है । जीवात्मा अपने निज स्वभावसे तो शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप ही है और तीन लोककी सर्व वस्तुको जानने वाला है । जाननेके वास्ते उसको आख, नाक आदि इन्द्रियोकी जरूरत नहीं है। वह अपनी ही निज शक्तिसे सर्व वस्तुको देखता जानता है। परन्तु राग, द्वेष आदि भावोके कारण संसारी जीव कर्मोंके वश हो कर देहके कैदखानेमें कैद हो रहे हैं और उनकी ज्ञान-शक्ति कम होकर उनको वस्तुओके जाननेके वास्ते आंख, नाक आदि इन्द्रियोकी जरूरत होती है। जैसे कि बूढे कमजोरको चलनेके वास्ते लाठीकी वा देखनेके वास्ते ऐनक लगानेकी जरूरत हो जाती है ।

संसारी जीवके देह होती है–इसीसे उसमे चार बाते अवश्य होती हैं–(१) किसी इन्द्रियका होना। (२) किसी प्रकारके शारीरिक बलका होना ।(३) आयु अर्थात् एक शरीरमें नियमित समयतक रहनेका होना। (४) सांसका लेना। इन्हीं चारों बातोंसे संसारी जीव जाने जाते हैं। ये ही चारों जीवके प्राण हैं ।

इन्द्रिय पांच प्रकारकी हैं–(१) त्वचा अर्थात् जो वस्तुको छूकर ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर (कड़ा),

भारी और हलका जाने। (२) जिह्वा अर्थात् जो चखकर चरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा पहचाने। (३) नासिका अर्थात् जो नाकसे सूंघकर सुगंध और दुर्गंध मालूम करे। (४) चक्षु अर्थात् जो देखकर सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला रंग मालूम करे। (५) कर्ण अर्थात् जो अनेक प्रकारके शब्दोंको सुने। इस प्रकार पांच इन्द्रिय हैं। छट्ठा मन है। वह भी एक प्रकारसे इन्द्रिय ही कहलाता है।

बल तीन प्रकारके है—मन बल, वचन-बल और काय-बल।

एकेन्द्रिय जीवमें चार प्राण हैं—स्पर्शन-इन्द्रिय, आयु, काय-बल और श्वासोच्छ्वास।

दो-इन्द्रियमे रसना-इन्द्रिय और वचन-बल मिलकर छ. प्राण हैं।

ते-इन्द्रियमे नासिका-इन्द्रिय बढ़कर सात प्राण हैं।

चौ-इन्द्रियमे चक्षु-इन्द्रिय बढ़कर आठ प्राण हो जाते हैं।

पंचेद्रिय दो प्रकारके हैं—मन वाले (संज्ञी) और बिना मन वाले (असंज्ञी)। बिना मन वाले पंचेद्रियमे कान-इन्द्रिय बढ़ कर ९ प्राण होते हैं। और मन वाले पंचेंद्रियमे मन-सहित दस प्राण हो जाते हैं।

संसारमे जीवोका जन्म तीन प्रकारसे होता है—गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद। स्त्रीके उदरमें माताके रुधिर और पिताके वीर्यके संयोगसे पैदा होना गर्भ-जन्म है। बिना गर्भके अनेक वस्तुओके मिलनेसे शरीर बन जाना सम्मूर्च्छन-जन्म है। जैसे खाटमे खटमल और सिरमे जूँ मैलसे पैदा हो जाते है। देव और नारकियोका उपपाद-जन्म है। उनका वैक्रियक शरीर होता है। वह माताके रज और पिताके वीर्यके बिना देव नारकियोके खास स्थानोमे जन्म समय तुरंतही बन जाता है।

सारांश यह है कि जीव चाहे जिस प्रकार पैदा हों प्राणोके

धारी सब होते हैं ।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥

अर्थ-उपयोग दो प्रकारका है-दर्शन और ज्ञान । दर्शन चार प्रकारका है—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ।

भावार्थ—जाननेका नाम उपयोग है । इन्द्रियोंके द्वारा जब हम किसी वस्तुको जानते हैं तब प्रथम हमको यह मालूम होता है कि कोई वस्तु है, परन्तु यह मालूम नहीं होता कि क्या वस्तु है? जैसे सुफेद झंडीको देखकर यह मालूम होता है कि कोई सुफेद वस्तु है, परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि क्या वस्तु है? इसको अवग्रह-मति-ज्ञान कहते हैं । अवग्रहसे भी पहले जो ज्ञान होता है उसको दर्शन कहते हैं । जैसे सुफेद झंडीको देखकर प्रथम यह मालूम हुआ कि कोई सुफेद वस्तु है, परन्तु यह मालूम नहीं हुआ कि क्या वस्तु है? यह अवग्रह है । परन्तु कोई सुफेद वस्तु है इतना जाननेसे भी पहले सिर्फ इतना मालूम हुआ कि वस्तु है । उस समय इस बातका कुछभी बोध नहीं हुआ था कि सुफेद है वा काली है वा किस आकारकी है? और क्या है? इसहीको दर्शन कहते हैं । वस्तुकी सत्ता-मात्रके ज्ञानका नाम दर्शन है । जब तक इतना ही ज्ञान होता है कि कुछ है, उसके रूप, रस, गध और वर्णका कुछ बोध नहीं होता है, अर्थात् जब तक किसी वस्तुकी कल्पना नहीं होती है कि क्या है? तभी तक दर्शन कहलाता है । और जब वस्तुका बोध होने लगता है कि क्या है? तबही वह ज्ञान कहलाने लगता है । इसही हेतु निर्विकल्प सत्ता-मात्रके ज्ञानको दर्शन और सविकल्पको ज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है उसका प्रथम दर्शन अवश्य होता है । परन्तु श्रीकेवली-भगवानको तीन लोक और तीन लोकमे

वाहर अलोककी सर्व वस्तु और सर्व वस्तुओकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान अवस्थाओका ज्ञान पूर्णरूपसे होता है, उनके ज्ञानसे कोई वस्तु वची नहीं रहती है । इस हेतु उनके ज्ञानमें दर्शन और ज्ञानका भेद हो ही नहीं सक्ता है अर्थात् उनका ज्ञान ऐसा नहीं होता है जैसा हम किसी वस्तुको जाननेके वास्ते प्रथम क्षणमे यह जानते हैं कि कुछ है; दूसरे क्षणमे कुछ विशेष जानते हैं, और तीसरे क्षणमें उससे भी कुछ विशेष जानते जानते क्रम क्रमसे वस्तुका वोध करते हैं । श्रीकेवली-भगवान तो सर्व वस्तुओंकी वीती हुई और आगामी होने वाली दशाओको भी और वर्तमान दशाको भी एक ही कालमें जानते हैं । इस हेतु उनका ज्ञान तो क्रमरूप हो ही नहीं सक्ता है और उनमे दर्शनका होना वनता ही नही है । परन्तु दर्शनको ढकने वाला दर्शनावरणी और ज्ञानको ढकने वाला ज्ञानावरणी, ये दो कर्म अलग २ हैं. और इन दोनो कर्मोंके नाश होनेसे ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। इस हेतु श्रीसर्वज्ञ देवके ज्ञानके भी दो भेद अर्थात् केवल-दर्शन और केवल ज्ञान किये गए हैं ।

दर्शन चार प्रकार हैं—(१) चक्षु-दर्शन अर्थात् आंखसे सत्ता-मात्र देखना । (२) अचक्षु-दर्शन अर्थात् आंखके सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे किसी वस्तुकी सत्ता-मात्रका जानना । (३) अवधि-दर्शन अर्थात् अवधि द्वारा रूपी पदार्थोंकी सत्ता-मात्रका जानना । (४) केवल-दर्शन अर्थात केवलीको समस्त पदार्थोंकी सत्ता-मात्रका भान होना ।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञान आठ प्रकार हैं—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल । इनमें कुअवधि,

अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये चार ज्ञान प्रत्यक्ष हैं; और कुमति, मति, कुश्रुत और श्रुत—ये चार परोक्ष हैं।

भावार्थ-ज्ञानके पांच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमेंसे मति, श्रुत और अवधि—ये तीन ज्ञान तो मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि दोनोंके हो सक्ते है, परन्तु मन पर्यय और केवल—ये दो ज्ञान सम्यक्दृष्टिके ही होते हैं। मिथ्यादृष्टिका ज्ञान कुज्ञान अर्थात् खोटा ज्ञान कहलाता है। इससे मति, श्रुत और अवधि-ये तीन ज्ञान जब मिथ्यादृष्टिके होते हैं तो कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते हैं। इस रीतिसे पांच ज्ञानमें ये तीन कुज्ञान मिलकर ज्ञानके आठ भेद हो जाते हैं।

पाचों इन्द्रियो तथा मनसे जो कुछ जाना जाता है उसको मति-ज्ञान कहते हैं। और मति-ज्ञानसे वस्तुको जानकर उसी जानी हुई वातके सम्बंधसे अन्य वातको जानना श्रुत-ज्ञान है। जैसे शीतल पवनका स्पर्श हमारे शरीरसे हुआ तव त्वचा-इन्द्रिय द्वारा हमने पवनके शीतलपनेको जाना यह तो मति-ज्ञान-है। परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभदायक है वा हानिकारक है, यह श्रुतज्ञान है। इस ही प्रकार किसीने हमको हमारा नाम लेकर आवाज दी कि सूरजभान ! यह शब्द हमारे कानसे स्पर्श करके हमको सूरजभान शब्दका ज्ञान हुआ कि कोई सूरजभान कहता है। परन्तु यह जानना कि सूरजभान नाम पुकारनेसे वह हमको आवाज देता है—यह श्रुत-ज्ञान है।

मति और श्रुतज्ञान प्रत्येक जीवको होता है-कोई भी जीव इन दोनो प्रकारके ज्ञानसे वचा हुआ नहीं है। हां, इतना अवश्य है कि किसी जीवमें ये ज्ञान अधिक होते हैं और किसीमें कमती। यहां तक कि लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीवको एक अक्षरका अनन्तवां भाग अर्थात् नाम-मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

इन्द्रियोंके सहारेके विदून आत्मीक शक्तिसे रूपी पदार्थ अर्थात् पुद्गल पदार्थके जाननेको अवधिज्ञान कहते हैं। देव, नारकी और श्रीतीर्थंकर भगवानको यह ज्ञान जन्म-दिनसे ही होता है। इस कारण इन तीनोंके अवधिज्ञानको भव-प्रत्यय-अवधिज्ञान कहते हैं। मन इन्द्रिय वाले पंचेंद्रिय जीवको, जिसकी सब इन्द्रियां पूर्ण होगई हो, किसी गुणके कारण अर्थात् किसी प्रकारके तपसे यदि अवधिज्ञान प्राप्त हो, तो उसको गुणप्रत्यय-अवधिज्ञान कहते हैं।

किसी मनुष्यने जो कुछ अपने मनमे चिन्तवन किया था वा चिन्तवन कर रहा है वा आगामीको चिन्तवन करेगा, उसका जानना मन पर्य्यय-ज्ञान है। छठेसे बारहवें तकके गुणस्थान वाले मुनियोंको यह मन.पर्य्यय-ज्ञान हो सक्ता है। गुणस्थानका वर्णन आगे किया जावेगा।

लोक अलोककी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सर्वही वस्तुओंको और सर्वही वस्तुओंके सर्व गुण पर्य्यायोंको जानना केवलज्ञान है। केवलज्ञानमें कोई वस्तु जाननी बाकी नहीं रहती है।

अवधि, मन.पर्य्यय और केवल—ये तीन ज्ञान इन्द्रियोंके सहारेके विदून आत्मीक शक्तिसे ही साक्षात्‌रूप होते हैं, इस हेतु इनको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। परन्तु मति और श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा ही होते हैं, इस कारण ये परोक्ष कहलाते हैं। मति-ज्ञानको सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं॥ ६॥

अर्थ—आठ प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनका जो धारक है वह जीव है। यह व्यवहार नयसे सामान्य जीवका लक्षण वर्णन किया गया है। शुद्धनयसे शुद्ध-ज्ञान-दर्शन ही जीवका लक्षण है।

भावार्थ-जीवका असली स्वभाव केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन अर्थात् सर्व वस्तुका जानना है। परन्तु संसारी जीवोंके ज्ञान-पर कर्मोंका पटल पडा हुआ है । जितना २ वह पटल दूर होता है उतना उतना ही ज्ञान प्रकट होता है । इसी कारण ज्ञानमे कमती वढती होनेसे व्यवहारमे ज्ञान और दर्शनके अनेक भेद हो गए हैं, और भेदरूप ही जीवकी पहचान रह गई है । वास्तवमें तो ज्ञान ही जीवकी पहचान है-जिसमे जानपना है वह ही जीव है ।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥

अर्थ-निश्चयसे जीवमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श-ये २० गुण नहीं हैं, इसलिये जीव अमूर्तीक ही है। परन्तु वंधके कारण व्यवहार-नयसे जीव मूर्तीक है।

भावार्थ-वही पदार्थ मूर्तीक कहाता है जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हों। वर्ण पाच प्रकारके हैं-सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला । रस भी पांच प्रकारके हैं-चरपरा, कडवा, कषायला, खट्टा और मीठा । गध दो प्रकारकी हैं-सुगंध और दुर्गंध । स्पर्श आठ प्रकारके हैं-ठडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर, भारी और हलका।

जिस वस्तुमें उपरोक्त बातें न हों वह अमूर्तीक है। जो इन्द्रियोंसे जानी जावे वही वस्तु मूर्तीक कहाती है । इन्द्रियां वर्ण, रस, गंध, शब्द और स्पर्शको जानती हैं। और रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श-ये सब पुद्गल पदार्थमें ही होते हैं । इस हेतु पुद्गल द्रव्य ही मूर्तीक है। पुद्गलके सिवाय और कोई वस्तु मूर्तीक नहीं है। जीव भी मूर्तीक नहीं है अर्थात् अमूर्तीक है ।

परन्तु संसारी जीव कर्म-वंधनमें वंधा हुआ है । कर्म पुद्गल है

अर्थात् मूर्तीक है। कर्म-बंधनके कारण यह जीव देहधारी भी हो रहा है। देह पुद्गल है और मूर्तीक है। देहका और जीवका एकमेक सम्बंध हो रहा है। इस हेतु संसारी जीवको मूर्तीक भी कह सक्ते हैं। जैसे जल शीतल है, परन्तु अग्निपर तपानेसे अग्निके परमाणु जलमें सम्मिलित हो जाते हैं और गरम होकर जल भी अग्निकी भांति गरम कहलाने लगता है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहार-नयसे आत्मा पुद्गलकर्म आदिका कर्त्ता है, निश्चय-नयसे चेतनकर्मोंका करनेवाला है, और शुद्ध नयसे शुद्ध भावोंका करनेवाला है।

भावार्थ—राग, द्वेष आदि भाव आत्माके निज भाव नहीं है। इस कारण यदि आत्माका शुद्ध स्वभाव वर्णन किया जावे तो वह राग, द्वेष, अर्थात् मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक किसी भी भावका करने वाला नहीं है; केवलज्ञान और केवलदर्शनसे सर्व वस्तुओंको विना राग, द्वेषके ही देखने जानने वाला है, यह ही आत्माका शुद्ध भाव है। यह शुद्ध निश्चय-नयका कथन कहलाता है।

परन्तु कर्म वश होकर जीवमें मान, माया, लोभ और क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होती है। ये कषाये चैतन्यमे ही उत्पन्न हो सक्ती हैं, जड़ पदार्थमें क्रोध आदि कोई भी कषाय उत्पन्न नहीं हो सक्ती है। इस कारण यह जीव ही मान, माया, लोभ और क्रोध आदि चैतन्य कर्मोंका करने वाला है। परन्तु ये कषाये उसका निज भाव नही हैं, कर्मोंके उदयसे जीवमे विकार उत्पन्न होकर ही ये कषाये उत्पन्न होती हैं। इस हेतु अशुद्ध निश्चय-नयसे ही जीव इन कषाय भावोंका करने वाला कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कपायोंके करनेसे पुद्गल कर्म उत्पन्न होते हैं और आत्माके साथ उनका बन्ध होता है। कर्मोंके उदयसे ही शरीर उत्पन्न होता है और जीव देहधारी होता है। जीव देहसे अनेक प्रकारकी क्रिया उठना, बैठना, चलना, हिलना, तोड़ना, फोड़ना, जोड़ना, मिलाना आदि करता है; और महल, मकान, कपड़ा, लत्ता, वर्तन आदि वनाता है। इस कारण इन सवका करनेवाला भी जीवात्मा ही है। परन्तु ये सव क्रियाएं शरीर और पुद्गलकर्मके द्वारा होती हैं, इस हेतु जीवात्माको इन क्रियाओका करनेवाला व्यवहार-नयसे ही कह सक्ते हैं, निश्चय-नयसे नहीं कह सक्ते।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९॥

अर्थ—आत्मा व्यवहार-नयसे सुख दुःख-रूप पुद्गल कर्मोंके फलको भोगनेवाला है और निश्चय-नयसे अपने चेतन स्वभावको ही भोगनेवाला है।

भावार्थ—आत्माका असली स्वभाव राग, द्वेप आदि भावोंसे भिन्न है—अपनी शुद्ध अवस्थामे जीवात्मा राग-द्वेषसे रहित होकर केवल-ज्ञान और केवल-दर्शनका ही परम आनन्द भोगता है, अर्थात् ज्ञानानन्द ही जीवात्माका भोग है। यह कथन निश्चय-नयसे है। परन्तु कर्मोंके वश होकर संसारी जीव अपने निज स्वभावमें नहीं है—उसमें विकार उत्पन्न हो रहा है, राग द्वेष पैदा हो गया है। इस हेतु वह सुख दुःखको अनुभव करता है। यह सुख दुःखका अनुभव जीवमें ही हो सक्ता है। शरीर जो पुद्गल है और अचेतन है उसको सुख वा दुःखका अनुभव नहीं हो सक्ता है। अचेतन पदार्थको सुख दुःखका अनुभव नहीं हो सक्ता है। सुख दुःखका अनुभव करनेवाला तो चेतन जीवात्मा ही है।

इस कारण कर्मोंके फलको भोगनेवाला जीवात्मा ही है। तथापि यह जीवका निज स्वभाव नही है। इस हेतु जीवको सुख दुःखका भोगनेवाला व्यवहार-नयसे ही कहा जाता है।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥१०॥

अर्थ—व्यवहार-नयसे यह जीव समुद्घात अवस्थाके सिवाय अन्य अवस्थामें संकोच तथा विस्तारसे अपने छोटे और बड़े शरीरके प्रमाण रहता है। और निश्चय-नयसे यह जीव असंख्यात प्रदेशोंका धारक है।

भाषार्थ—पुद्गल पदार्थके सबसे छोटे विभागको परमाणु कहते हैं। जितने स्थानको एक परमाणु रोके, उसको प्रदेश कहते हैं। तीन लोकके असंख्यात प्रदेश हैं। तीन लोकमे फैल जानेकी जीवमें शक्ति है। इस हेतु जीवके असंख्यात प्रदेश है। यह कथन निश्चयनयसे है। परन्तु कर्मोंके वश संसारी जीव देह-धारी होता है। हाथीकी देह बहुत बड़ी है और कीड़ीकी बहुत छोटी। इस ही प्रकार अनेक जीवोंकी देह भिन्न २ प्रकारकी है। कर्मोंके वश संसारी जीव ८४ लाख योनियोमे भ्रमण करता है। कभी मनुष्य बनता है और कभी वृक्ष, कभी हाथी बनता है और कभी घोड़ा। अर्थात् कभी इसको छोटा शरीर मिलता है और कभी बड़ा। कभी किसी आकारका और कभी दूसरे प्रकारका। जीवमें संकोच विस्तारकी अर्थात् सुकड़ने और फैलनेकी शक्ति है। इस कारण जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है यह जीव उतना ही बन जाता है। यह कथन व्यवहार-नयसे है। मनुष्य-शरीरसे ही मुक्ति होती है। मुक्तिके समय जिस आकारका शरीर होता है वही आकार अर्थात् उतनी ही लम्बाई चौड़ाई मुक्त जीवके प्रदेशोंकी सिद्ध अवस्थामें रहती है। क्योंकि यद्यपि जीवकी शक्ति

तीन लोकमे फैल जानेकी है । परन्तु मुक्त होनेपर अपने आकारको वढाने अर्थात् फैलाने वा कोई विशेष आकार वनानेका कोई कारण भी तो नहीं रहता है। इस हेतु मुक्त होते समय शरीर छोड़ने पर जो आकार शरीरका था उसके ही समान जीवका आकार वना रहता है।

ससारी जीवका आकार सदा देहके अनुसार होता है। अर्थात जैसी देह मिलती है उसमे ही जीव व्यापक रहता है, न तो देहसे वाहर होता है और न देहका कोई अंग जीवसे खाली रहता है। परन्तु समुद्घातके समय जीव देहके अन्दर भी रहता है और देहसे वाहर भी फैल जाता है। समुद्घात सात प्रकारका होता है-(१) वेदना (२) कषाय (३) विक्रिया (४) मारणान्तिक (५) तैजस (६) आहारक और (७) केवली।

समुद्घात ।

१—तीव्र वेदना अर्थात अधिक दुःखकी अवस्थामें मूल शरीरको न त्याग कर जीवके प्रदेशोंका शरीरसे वाहर फैलना वेदना-समुद्घात है।

२—क्रोधादिक तीव्र कषायके उदयसे धारण किये हुए शरीरको न छोडकर जीवके प्रदेशोंका शरीरसे वाहर फैलना कषाय-समुद्घात है।

३—जिस शरीरको जीवने धारण कर रखा है उसको न त्याग करके जीवके कुछ प्रदेशोंका किसी प्रकारकी विक्रिया करनेके अर्थ शरीरसे वाहर फैल जाना विक्रिया-समुद्घात है।

४—मरण समय जीव तुरत ही शरीरको नही त्यागता है, वरन शरीरमें रहने हुए ही शरीरसे वाहर उस स्थान तक फैलता है जहा इसको जन्म लेना है—इसको मारणान्तिक-समुद्घात कहते हैं।

५—तैजस-समुद्घात दो प्रकारका है—एक शुभ और दूसरा अशुभ। जगतको रोग वा दुर्भिक्ष आदिसे पीडित देखकर महामुनिको कृपा उत्पन्न होनेसे जगतकी पीडाका कारण दूर करनेके अर्थ उनका आत्मा शरीरमें रहते हुए भी उनके दक्षिण कधेसे निकले हुए पुरुषाकार

तैजस शरीरके साथ शरीरसे बाहर भी फैलता है और जगतकी पीडाका कारण दूर करके फिर संकोच कर शरीरके बराबर ही रह जाता है—इसको **शुभ-तैजस** कहते हैं। महामुनिको किसी कारणसे क्रोध उत्पन्न होने पर जिस वस्तु पर क्रोध हुआ है उसको नष्ट करनेके अर्थ उनका जीव शरीरमें रहते हुए उनके बाम स्कंधसे निकले हुए सिंदूरकी कांतिको लिये पुरुषाकार तैजस शरीरके साथ शरीरसे बाहर भी फैलता है और जिस वस्तु पर क्रोध था उसको नष्ट कर महामुनिके शरीरको भी भस्म कर देता है और वह तैजस शरीरका पुतला आप भी भस्म हो जाता है—यह **अशुभ तैजस-समुद्घात** है।

६—परम ऋद्धिके धारी महामुनिको जब किसी विषयमें कोई शंका उत्पन्न हो तब उनका जीव शरीरमें रहते हुए उनके मस्तकसे निकले हुए स्फटिक वर्णी एक हाथ प्रमाण पुरुषाकार आहारक शरीरके साथ दोनों शरीरसे बाहर भी फैले और जहां कहीं श्रीकेवली-भगवान हों वहा तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीरमें प्रवेश कर जावे—इसको **आहारक-समुद्घात** कहते है।

७—केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर जीवात्मा जो दंड, कपाट और प्रतर नामक क्रिया द्वारा फैलता है उसको **केवल-समुद्घात** कहते हैं।

इन सात समुद्घातोंके सिवाय अन्य किसी प्रकार भी जीवात्मा शरीरसे बाहर नहीं फैलता है।

पुढविजलतेओवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति—इन भेदोंसे नाना प्रकारके स्थावर जीव हैं। ये सब एकेंद्रिय हैं अर्थात् एक स्पर्शन-इन्द्रियके ही धारक हैं। दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियोंके धारक त्रस जीव होते हैं। जैसे शंख आदि।

भावार्थ—संसारी-जीव दो प्रकारके हैं—एक **स्थावर**, जो अपनी

इच्छासे चल फिर नहीं सक्ते हैं, और दूसरे त्रस, जो चल फिर सक्ते हैं। इंद्रिय पांच हैं-स्पर्शन (त्वचा), रसन (ज़बान), घ्राण (नाक), चक्षु (आंख) और कर्ण (कान)। स्थावर जीवोमे एक स्पर्शन-इन्द्रिय ही होती है, और कोई इन्द्रिय नही होती। स्थावर जीव पाच प्रकारके हैं-(१) पृथिवीकाय अर्थात् पृथिवी ही जिनकी काया है। (२) जलकाय अर्थात् जल ही जिनकी काया है। (३) तेजकाय अर्थात् अग्नि ही जिनकी काया है। (४) वायुकाय अर्थात् वायु ही जिनकी काया है। ये चारो प्रकारके जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं और पृथिवी, जल, तेज और वायुके रूपमें रहते हैं। (५) वनस्पति अर्थात् वृक्ष, जो वडे भी होते हैं और अति सूक्ष्म भी होते हैं। निगोदिया जीव, जो अति सूक्ष्म होते हैं वे भी वनस्पति काय ही हैं। दो-इन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन और रसन अर्थात् त्वचा और जिह्वा—ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। शख, कृमि आदि जीव दो-इन्द्रिय हैं। ते-इन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसन और घ्राण-ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। कीड़ी, जूं और खटमल आदि जीव ते-इन्द्रिय हैं। चौ-इन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु अर्थात् नेत्र—ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। डांस, मच्छर, मक्खी और भौंरा आदि जीव चौ-इन्द्रिय है। पंचेन्द्रिय जीवोंमे स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण—ये पांचो इन्द्रियाँ होती हैं। घोड़ा, वैल और मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय हैं।

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकारके हैं। दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय—ये सब असंज्ञी (मनरहित) हैं। एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकारके हैं। ये सातों प्रकारके जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं।

भावार्थ-एक, दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवोके मन नहीं होता है। मन पंचेद्रिय जीवोके ही हो सक्ता है। पंचेद्रियमे भी कोई मन वाले हैं और कोई विना मन वाले हैं। मन वाले संज्ञी और बिना मन वाले असंज्ञी कहलाते है। एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीव दो प्रकारके होते हैं-एक वादर अर्थात् स्थूल जो दृष्टिमें आसके और दूसरे सूक्ष्म। इस प्रकार जीवोके सात भेद हुए (१) वादर एकेन्द्रिय (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय (३) दोइन्द्रिय (४) तेइन्द्रिय (५) चौइन्द्रिय (६) संज्ञी पंचेद्रिय (७) असंज्ञी पंचेद्रिय।

शरीरके अवयवोके वन जानेको पर्याप्त कहते हैं। पर्याप्ती छै हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोछ्वास, भाषा और मन। इनमेसे जिस जीवके जितनी पर्याप्ती वनने योग्य होती हैं उनके वन कर पूर्ण हो जाने पर वह जीव पर्याप्त कहलाता है और उनके वनने से पहले अपर्याप्त कहलाता है। गोम्मटसार आदि महान ग्रन्थोमें पर्याप्त और अपर्याप्त-दोनो अवस्थाओके वावत भिन्न २ वर्णन विस्तारके साथ किया गया है। उपर्युक्त सात प्रकारके जीवोंके पर्याप्त अपर्याप्त-ये दो दो भेद करके १४ प्रकारके जीव वर्णन किये गए है, जिसको जीव-समास कहते है।

एकेद्रियमे भाषा और मनके सिवाय चार पर्याप्तिये होती है।

दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रियमें भाषा मिलकर पांच पर्याप्तिये होती है, और संज्ञीमे मन मिलकर छहो पर्याप्तिये हैं।

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥ १३॥

अर्थ-संसारी जीव अशुद्धनयसे मार्गणास्थान और गुंणस्थानोंसे चौदह २ प्रकारके होते हैं; और शुद्धनयसे शुद्ध ही हैं।

भावार्थ-यदि जीवका निज स्वभाव देखा जावे तो वह शुद्ध है और ज्ञान-स्वरूप है। इसके सिवाय और कोई भेद उसमे नहीं है। यह शुद्ध-नयका कथन है। परन्तु अशुद्ध-नयसे संसारी जीवके अनेक रूप और अनेक दशाएँ होती हैं।

जीवकी संसार सम्बन्धी अवस्थाकी अपेक्षा महान ग्रन्थोमे १४ बातोका कथन किया है, जिनको मार्गणा-स्थान कहते हैं। और जीवके गुणोकी अपेक्षा भी उसके १४ दर्जे किये हैं, जिनको गुणस्थान कहते हैं।

१४ मार्गणा।

१४ मार्गणा इस प्रकार हैं-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यकत्व, संज्ञा, और आहार। अब इनका संक्षेपसे अलग २ वर्णन करते हैं —

१ गति-एक पर्यायसे दूसरे पर्यायमे जानेका नाम गति है। संसारी जीवकी सर्व पर्यायोके मोटेरूप चार विभाग किये गये हैं-नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। ये़ही चार गति कहलाती हैं।

नरकमें रहने वाले नारकी हैं। स्वर्गमे रहने वाले देव हैं। नारकी, देव और मनुष्यके सिवाय जितने संसारी जीव हैं वे सब तिर्यंच कहलाते हैं।

२ इन्द्रिय-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण-ये पांच इन्द्रिय हैं। एकेद्रिय, द्वीद्रिंय, त्रियीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रियके भेदसे इंद्रिय-मार्गणा पांच प्रकार है।

३ काय-पृथिवीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-इस प्रकार छह प्रकारकी काय हैं। एकेंद्रीके सिवाय सब जीव त्रसकाय है। वनस्पति कायके जीव दो प्रकारके हैं-एक प्रत्येक अर्थात् एक वृक्षमे एक ही जीव, दूसरे साधारण अर्थात् एक वनस्पतिमे अनन्त जीव। ये अनन्त जीव एक साथ ही पैदा होते हैं, एक साथ ही मरते हैं और सब एक

साथ ही सांस लेते हैं। जितनी देरमें हम एक सांस लेते हैं उतनी देरमे इन जीवोंका १८ वार जन्म मरण हो जाता है । ये जीव निगोदिया कहाते हैं।

४ योग-शरीरके सम्बन्धसे आत्माका हिलना योग कहलाता है। संसारी जीवके सर्व शरीरमे जीवात्मा व्याप रहा है । इस हेतु शरीरके हिलनेसे आत्मामें भी हलन चलन होता है । वह तीन प्रकार है-(१) मनमे किसी प्रकारका विचार करनेसे, (२) वचन बोलनेसे, और (३) कायाको किसी प्रकार हिलानेसे। इस कारण योग तीन प्रकार हैं-मन, वचन और काय । विस्तार रूपसे योग-मार्गणाके पंद्रह भेद हैं।

५ वेद-जिसके उदयसे मैथुन करनेकी इच्छा होती है उसको वेद कहते हैं। उसके ३ भेद हैं-पुरुष, स्त्री और नपुंसक। नारकी और सम्मूर्छन जन्मवाले जीव सब नपुंसक ही होते हैं । देव नपुंसक नहीं होते। बाकी जीव तीनों प्रकारके होते हैं।

६ कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ-ये चार कषाय हैं । और (१) हास्य अर्थात् हंसी, (२) रति अर्थात् प्यार-प्रसन्नता, (३) अरति अर्थात् अप्रसन्नता-नाराजी, (४) शोक अर्थात रंज, (५) भय अर्थात् डर, (६) जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि-नफरत, (७) पुरुषवेद अर्थात् स्त्रीसे भोगकी इच्छा, (८) स्त्रीवेद अर्थात् पुरुषसे भोगकी इच्छा, (९) नपुंसक वेद अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनोंसे भोगकी इच्छा-इस प्रकार ये ९ नो-कषाय हैं । नो का अर्थ है न्यून अर्थात् कमती । मान, माया, लोभ और क्रोधसे ये कषायें कमती हैं; इस कारण इनको नो-कषाय कहा है।

मान, माया, लोभ और क्रोध-इन चार कषायोंके चार २ भेद किये गये हैं-(१) अनन्तानुबन्धी जो सम्यक्त न होने दे, (२) अप्रत्याख्यानी जो देश-चारित्र अर्थात् गृहस्थी-श्रावकका धर्म भी न पालने दे, (३) प्रत्याख्यानी जो देश-चारित्र तो होने दे

परन्तु मुनि-धर्म अर्थात् सकल-चारित्र न होने दे, (४) संज्वलन जो सकल-चारित्र तो होने दे परन्तु यथाख्यात चारित्र न होने दे । इस प्रकार चार कषायके १६ भेद और ९ नो-कषाय मिलकर २५ प्रकारकी कषाय-मार्गणा है ।

७ ज्ञान—आठ प्रकार है, जिसका वर्णन गाथा पांचवींमे हो चुका है ।

८ संयम—सम्यक् प्रकार यम नियम पालनेको सयम कहते हैं । अहिंसा आदि व्रतोंका पालना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन वचन-कायकी अशुभ प्रवृत्तिका रोकना और इन्द्रियोंको वसमें करना संयम है। संयम पांच प्रकारका है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, और यथाख्यात । संयमासंयम और असंयम—ये दो और मिलकर संयममार्गणाके सात भेद हैं । राग द्वेषके त्यागरूप समता-भावके अवलम्बनसे आत्मध्यान करनेको सामायिक कहते हैं । सामायिक-चारित्रके धारण करनेके पश्चात् किसी प्रमादके कारण संकल्प विकल्प आदि विकार उत्पन्न होनेसे किसी प्रकारके प्रायश्चित्त आदिसे फिर संभलना और अनर्थक सावद्य (पापरूप) व्यापारसे उत्पन्न हुए दोषका छेद कर फिरसे अपनेको अपनी आत्मामें स्थिर करना छेदोपस्थापना है । सामायिकमें जो सावद्य योग तथा सङ्कल्प विकल्पका त्याग है उससे भी अधिक त्याग कर आत्मीक शुद्धि करना परिहार-विशुद्धि है । आत्माकी शुद्धतामें इससे भी अधिक उन्नति करना जिसमें कषाय नाम-मात्रको बहुतासूक्ष्म रह जावे वह सूक्ष्म-सांपराय-चारित्र है । आत्माका जैसा शुद्ध निष्कंप कषाय-रहित स्वरूप कहा गया हैं वैसा हो जाना यथाख्यात-चारित्र है । संयमका बिल्कुल न होना असंयम है । और कुछ संयम और कुछ असंयम इस प्रकारकी मिश्रित अवस्थाको संयमासंयम

कहते हैं। गृहस्थी-श्रावक संयमासंयमी होते है।

९ दर्शन—चार प्रकार है—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। इनकी व्याख्या चौथी गाथामे हो चुकी हैं।

१० लेश्या-कषाय-सहित योगका होना अर्थात् कषाय-सहित मन, वचन वा कायकी प्रवृत्ति होना लेश्या है। लेश्यासे कर्म-बन्ध होता है। कर्म दो प्रकारके हैं—पाप और पुन्य। इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकारकी हैं—शुभ और अशुभ। शुभ लेश्यासे पुन्य होता है और अशुभसे पाप। शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी लेश्याके तीन २ भाग किये गये हैं—(१) उत्कृष्ट अशुभ जिसको कृष्ण लेश्या कहते है, (२) मध्यम अशुभ जिसको नील लेश्या कहते हैं, (३) जघन्य अशुभ जिसको कापोत लेश्या कहते हैं, (४) जघन्य शुभ जिसको पीत लेश्या कहते है, (५) मध्यम शुभ जिसको पद्म लेश्या कहते है, (६) उत्कृष्ट शुभ जिसको शुक्ल लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या-मार्गणा ६ प्रकार है।

११ भव्यत्व—जीव दो प्रकारके हैं—भव्य और अभव्य। जो किसी कालमे सम्यग्दर्शनादि भाव रूप होवेंगे वा हो चुके है, अर्थात् जो मोक्षको जानेकी योग्यता रखते है वे भव्य है। और जिनको कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा अर्थात् जिनमे किसी कालमें भी सम्यग्दर्शनादिके प्राप्त होनेकी योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं।

१२ सम्यक्त्व—तत्वार्थ-श्रद्धानको सम्यक्त कहते हैं। मोटे रूप कथनसे अपने और परायेकी पहचान होकर अपनी आत्माका सच्चा श्रद्धान हो जाना सम्यक्त है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन, और मिश्र—इन तीन विपक्ष भेदो सहित सम्यक्त्व-मार्गणा ६ प्रकार है।

१३ संज्ञी—संज्ञी तथा असंज्ञी भेदसे संज्ञी-मार्गणा दो प्रकार है।

१४ आहार—तीन शरीर (कार्माण, तैजस, वैक्रियक) और

६ पर्याप्तीके योगसे पुद्गल परमाणुओंके ग्रहण करनेका नाम आहार है । आहारक और अनाहारकके भेदसे आहार-मार्गणा भी दो प्रकार है । मरनेके पश्चात् विग्रह गतिमे एक, दो वा तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है, केवल-समुद्घातमे अनाहारक होता है, और सिद्ध भगवान अनाहारक है । अन्य सर्व अवस्थामें जीव आहारक ही रहता है ।

१४ गुणस्थान ।

जीवके १४ गुणस्थान इस प्रकार हैं–मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत्, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलीजिन और अयोगकेवलीजिन ।

१ मिथ्यात्व–सम्यक्त्वके न होनेको मिथ्यात्व कहते हैं । झूठे श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है ।

२ सासादन–कोई जीव सम्यक्त प्राप्त होकर फिर भ्रष्ट हो जावे अर्थात् मिथ्यात्वी हो जावे । ऐसी अवस्थामे सम्यक्तसे गिर कर जब तक वह जीव मिथ्यात्वको प्राप्त न हो जावे तब तक जो बीचके समयकी दशा है उसको सासादन कहते हैं ।

३ मिश्र–सम्यक्त और मिथ्यात्व दोनों मिलकर जो एक विलक्षण भाव उत्पन्न हो उसको मिश्र कहते हैं ।

४ अविरत-सम्यक्त्व–सम्यक्त उत्पन्न हो जावे, परन्तु किसी प्रकारका व्रत वा चारित्र धारण न करे ।

५ देश-विरत–सम्यक्त-सहित एकदेश चारित्र पालनेका नाम देश-विरत है । जो सम्यक्ती किंचित त्यागी है उसको गृहस्थी-श्रावक भी कहते हैं । इसके ११ प्रतिमाएँ अर्थात् दर्जे हैं, जिनका वर्णन आगे किया गया है ।

६ प्रमत्त-विरत–जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह–इन पांच पापोंके त्यागरूप पांच महाव्रतोंको पालता

है, परन्तु प्रमाद उसके विद्यमान है, वह प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

७ अप्रमत्त-विरत—जो प्रमाद-रहित होकर पांच महाव्रतोंको पालता है।

८ अपूर्व-करण—सातवें गुणस्थानसे भी ऊपर अपनी विशुद्धतामे अपूर्व रूप उन्नति करता है।

९ अनिवृत्ति-करण—आठवें गुणस्थानसे भी अधिक उन्नति करता है।

१० सूक्ष्म-सांपराय—जहां सब कषाये उपशम वा क्षयको प्राप्त हो गई हैं, केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म-रूपसे बाकी रह जाती है, उस गुणस्थानका नाम सूक्ष्म-सांपराय है।

११ उपशान्त-मोह—जिसकी कषाये किंचित मात्र भी उदयमे नही है-सब उपशम हो गई हैं अर्थात् दब गई हैं, वह उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थानसे जीव फिर नीचे गिरता है, क्योकि कषाये जो सत्तामे विद्यमान थीं उनका फिर उदय हो जाता है।

१२ क्षीण-मोह—जहां कषाये बिल्कुल क्षीण अर्थात् नाशको प्राप्त हो जाती हैं वह क्षीणमोह गुणस्थान है।

१३ सयोग-केवली—जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, परन्तु योगकी प्रवृत्ति होती है वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव है। इसी दशामे भगवानकी वाणी खिरती है, जिससे धर्मोंपदेश चलता है।

१४ अयोग-केवली—केवलज्ञान होनेके पश्चात् जब मन, वचन, कायरूप योगकी प्रवृत्ति भी दूर हो जाती है, तब जीव अयोग-केवली-जिन कहलाता है। इसके अनन्तर ही सिद्ध पदकी प्राप्ति होती है।

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणाचरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥

अर्थ–जो जीव आठों कर्म रहित हैं, आठ गुणके धारक हैं, और अंतिम शरीरसे कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं, ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्र-भागमें स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय संयुक्त हैं ।

भावार्थ–कर्मोंसे रहित होकर यह जीव निज शुद्ध स्वभावको प्राप्त होता है, उसको ही सिद्ध अवस्था कहते हैं । सिद्ध अवस्थामें आठ गुण होते हैं अर्थात् सम्यकत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु, और अव्याबाध ।

शुद्ध सच्चा श्रद्धान प्रत्येक वस्तुका होनेसे उनमें क्षायक सम्यक्त्वगुण है । जीवात्मामे अनन्त-ज्ञानकी शक्ति है जो सिद्धोमे होती है । इसी प्रकार अनन्त-दर्शन भी होता है । अनन्त ज्ञानादिक आत्मीक शक्तिको पूर्ण-रूपसे प्राप्त होनेके कारण तथा पदार्थोंके जाननेमें कुछ भी खेद न होनेके कारण उनमें अनन्त-वीर्य अर्थात् अनन्त बल भी है । जीवात्मा अति सूक्ष्म अमूर्तीक है जो केवलज्ञानसे ही पूर्णरूप जाना जा सक्ता है, इस कारण सिद्धोमे सूक्ष्मत्व गुण भी है । जीवात्मा अति सूक्ष्म होनेसे न किसी वस्तुसे रुकता है और न किसी वस्तुको रोकता है, वरन एक ही स्थानमे अनेक जीव समा सक्ते हैं, इस हेतु सिद्धोंमें अवगाहन-शक्ति भी है । जीवात्मा न हलका है और न भारी है, इस कारण सिद्धोंमे अगुरुलघु गुण है । सिद्धोंको अनन्त-सुख है जिसमे किसी प्रकारकी बाधा नहीं आ सक्ती है, इस कारण सिद्धोंमे अव्याबाध गुण है ।

जिस शरीरसे मुक्ति होती है उस शरीरका जितना आकार है, मोटे रूपसे तो उतना ही आकार सिद्ध अवस्थामे होता है, परन्तु

तार्तम्य कथनके अनुसार इस आकारसे कुछ कम आकार सिद्धोंका होता है।

जीवका उर्ध्वगमन अर्थात् ऊपरको जानेका स्वभाव है। जैसे पानीमें कोई हलकी वस्तु तूंबी आदि डाल दी जावे तो वह अपने स्वभावसे आप ही आप ऊपरको आजावेगी अथवा जैसे अग्निकी लटा ऊपरको ही जावेगी। परन्तु वस्तुका गमन वहीं तक हो सक्ता है जहां तक धर्म-द्रव्य हो, जैसा कि धर्म-द्रव्यके कथनमें आगे दिखाया जावेगा। धर्म-द्रव्य तीन लोकके ही भीतर है। तीन लोकसे बाहर अलोकाकाशमें धर्म-द्रव्य नहीं है। इस वास्ते ऊपरको जाता हुआ मुक्त जीव उस स्थानपर ठहर जाता है जहां लोककी समाप्ति है। इस ही कारण लोकके अग्रभागमें अर्थात् लोक-शिखरपर सिद्धोंकी स्थिति है।

मुक्ति पानेपर जीव कभी लौटकर संसारमें नहीं आता है, वह सदा सिद्ध ही बना रहता है; इस हेतुसे सिद्ध अवस्था नित्य है।

सर्व वस्तुओंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। किसी पर्य्यायमें स्थित होनेको ध्रौव्य कहते हैं। पहली पर्य्यायके नाशको व्यय कहते हैं। और नवीन पर्य्यायके उत्पन्न होनेको उत्पाद कहते हैं। प्रत्येक वस्तु समय २ में पर्य्याय पलटती रहती हैं। इस हेतु उनमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है। परन्तु सिद्ध तो अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही निरंतर निश्चलरूप स्थित रहते हैं और अपनी ज्ञान-शक्तिसे तीन लोककी भूत, भविष्यत् और वर्तमान वस्तुओंको देखते रहते हैं। संसारी वस्तुओंकी जो इस समय अवस्था है वह अगले क्षणमें बीती हुई अवस्था हो जावेगी। और जो आगेको होनेवाली अवस्था है वह वर्तमान अवस्था हो जावेगी। इसी प्रकार यद्यपि सिद्धोंको भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों अवस्थाका ज्ञान युगपत अर्थात् एकही साथ है, परन्तु जिस प्रकार संसारी वस्तुओंकी भूत, भवि-

ष्यत् और वर्तमान अवस्थाएँ है उसी प्रकार उनके ज्ञानमे है कि अमुक अवस्था वर्तमान है, अमुक २ अवस्थाएँ वीत गई है, और अमुक २ अवस्थाएँ वीतने वाली हैं। और जैसे कि वर्तमान अवस्था वीत कर वीती हुई हो जाती है, और होनेवाली अवस्था वर्तमान हो जाती है, उसके अनुसार उनके ज्ञानमे परिवर्तन हो जाता है। यह सिद्धोका उत्पाद और व्यय है । सिद्धोमे उत्पाद और व्यय कहनेका प्रयोजन यह है कि जीव परिणामी है। कोई २ मत वाले इसको अपरिणामी मानते हैं, वह ठीक नहीं है।

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१५॥

अर्थ–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–ये पांच अजीव द्रव्य हैं । इनमें पुद्गल मूर्तीक है, रूपादि गुणोंका धारक है। और बाकी चार द्रव्य अमूर्तीक हैं।

भावार्थ–जिसमे किसी प्रकार भी ज्ञान-शक्ति नहीं है उसको अजीव कहते हैं। अजीव पांच प्रकारके हैं–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जो वस्तु छुई जा सक्ती है, जो चाखी जा सक्ती है, जिसमे किसी प्रकारका गध है, जो आंखोसे देखी जा सक्ती है, अर्थात् जो वस्तु इन्द्रिय-गोचर है, वह मूर्तीक कहलाती है। ये सर्व गुण पुद्गल पदार्थमें ही हैं । इस कारण पुद्गल ही मूर्तीक है और बाकीके सब द्रव्य अमूर्तीक हैं। पुद्गलका वर्णन अगली गाथा १६ में, धर्मका वर्णन गाथा १७ में, अधर्मका वर्णन गाथा १८ मे, आकाशका वर्णन गाथा १९–२० मे और कालका वर्णन गाथा २१–२२ में किया गया है।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ १६ ॥

अर्थ–शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, और आतप–इन करके जो सहित हैं वे सब पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें हैं।

भावार्थ–पृथिवी, जल, अग्नि और वायु–ये सब पुद्गल द्रव्यकी पर्य्यायें हैं।

शब्द–अनेक मतवालोंने शब्दको आकाशका गुण माना है, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि मुखमे जिह्वाके हिलनेसे वा घण्टेमे मूगरी मारनेसे वा अन्य किसी प्रकारसे पुद्गल द्रव्यके हिलनेसे उस वस्तुके समीपकी वायु हिलती है और वह वायु अपने समीपकी वायुको हिलाती है–इस तरह वायु हिलते हिलते जब किसीके कानको टक्कर देती है तो उस टक्करके अनुसार शब्द मालूम होता है।

भेद अर्थात् टुकड़े होना। जैसे गेहूंको पीसकर वारीक कण वनाकर आटा वना लेते हैं। बन्ध अर्थात् जुड़ना। जैसे आटेके वारीक कणोको पानीमे घोलकर रोटी बना लेते है। ये दोनों वातें अर्थात् भेद और बन्ध पुद्गलमे ही होते है। पुद्गलके सिवाय और किसी द्रव्यके न टुकड़े होते हैं और न जुड़ते हैं।

सूक्ष्म अर्थात् वारीक होना और स्थूल अर्थात् मोटा होना, यह भी पुद्गलमे ही होता है। अन्य सब द्रव्य अमूर्तीक हैं और वैसे ही रहते हैं।

संस्थान अर्थात् गोल, चकोर, त्रिकोण आदि आकारका होना भी पुद्गलमे ही है।

तम अर्थात् अंधेरा, छाया अर्थात् साया, उद्योत अर्थात् रोशनी और आतप अर्थात् गर्मी, ये सब भी पुद्गलमे ही होते हैं।

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई॥ १७॥

अर्थ—पुद्गल और जीव गमन-रूप परिणमते हैं। उनके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी है। जैसे मछलीके चलनेमें जल सहकारी है। परन्तु गमन न करते हुए पुद्गल और जीवको वह धर्मद्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है अर्थात् गमनकी प्रेरणा नहीं करता है।

भावार्थ—गमन अर्थात् हिलने चलनेकी शक्ति जीव और पुद्गल दो ही द्रव्योंमें है। अन्य कोई द्रव्य हिलता चलता नहीं है। परन्तु जैसे मछलीको चलनेके वास्ते जलकी और पतंगको उड़नेके वास्ते वायुकी जरूरत होती है वा जैसे कोठेपर चढ़नेके वास्ते सीढ़ीकी जरूरत होती है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुको हिलने चलनेके वास्ते एक द्रव्यकी आवश्यकता है, जिसका नाम धर्म द्रव्य रक्खा गया है। धर्म द्रव्यसे मतलब यहा पुण्य, पाप वा मुक्ति-मार्गसे नहीं है, वरन यह तो एक अजीव द्रव्य है, जो अमूर्तीक है और तीन लोकमें व्यापक है। यह तीन लोकसे बाहर नहीं है। यह धर्म-द्रव्य आप तो हिलता चलता नहीं है—तीन लोकमें ज्योंका त्यों व्यापक रहता है, परन्तु इसके सहारेसे जीव और पुद्गल हलन चलन क्रिया करते रहते हैं। तीन लोकके बाहर अलोकाकाशमें धर्म द्रव्य नहीं है, इस हेतु वहां गमन नहीं हो सक्ता है। परन्तु यह धर्म द्रव्य किसी वस्तुको हिलने चलनेकी प्रेरणा नहीं करता है। जैसे सीढी मनुष्यको प्रेरणा नही करती है कि तुम मेरे द्वारा कोठेपर चढ़ो, वरन जब कोई मनुष्य चढ़े तो उसको चढनेमें सीढ़ी सहकारी होती है।

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥१८॥

अर्थ—जो पुद्गल और जीव स्थिति-सहित हैं अर्थात् ठहरे हुए हैं उनकी स्थितीमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है।

जैसे मुसाफिरको वृक्षकी छाया ठहरनेमें सहकारी कारण होती है। परन्तु गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य प्रेरणा करके नहीं ठहराता है।

भावार्थ-जिस प्रकार गमनके वास्ते सहकारी धर्म द्रव्य है, उसी प्रकार ठहरनेके वास्ते सहकारी अधर्म द्रव्य है। अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक है और तीन लोकमे व्यापक है-लोकसे बाहर अलोकाकाशमे नहीं है। परन्तु जिस प्रकार धर्मद्रव्य गमन करनेकी प्रेरणा नहीं करता है, बरन गमन करनेवाली वस्तुको गमनमे सहायता देता है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करता है, बरन जो वस्तु, गमन अर्थात् हलन चलन क्रियाको बन्द करके ठहरे, उसको ठहरनेमें सहायता करता है।

जीव, पुद्गल, आकाश और काल-ये चार द्रव्य बहुतसे मतवालोंने माने है, परन्तु धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य जैनमतमे ही माने गये हैं। किन्तु आजकल अंग्रेजीके महान फिलॉसोफर इस बातकी शंका कर रहे हैं कि वस्तुकी गति और स्थितिके वास्ते कोई सहकारी वस्तु अवश्य होनी चाहिये और वे इसकी कुछ खोज भी कर रहे हैं, परन्तु अमूर्तीक वस्तुओंकी उनको क्या खोज मिल सक्ती है?

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ-जो जीवादि द्रव्योंको अवकाश देनेकी योग्यता रखने वाला है उसको श्रीजिनेंद्रदेव आकाश कहते हैं। आकाशके दो भेद हैं-लोकाकाश और अलोकाकाश।

भावार्थ-रहनेको स्थान देना आकाशका काम है। आकाश सर्व-व्यापक है। यदि कोई पूछे कि तीन लोकके बाहर क्या है? तो यही कहा जावेगा कि आकाश। और वह कहां तक है?

तो इसकी कोई सीमा नहीं वांधी जा सक्ती। क्योकि जो कुछ भी सीमा वांधी जावेगी उसके वाहर क्या है? यह प्रश्न होगा। तो फिर यह ही कहना पड़ेगा कि आकाश। इस कारण आकाश अनन्त है, आकाशका कोई अंत नही है। आकाश भी अमूर्तीक है और सर्व-व्यापक होनेसे प्रत्येक वस्तुके अन्दर और वाहर सव ही जगह आकाश है।

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव—ये पांचों द्रव्य जितने आकाशमें है वह लोकाकाश है। और उस लोकाकाशसे वाहर जो आकाश है उसको अलोकाकाश कहते हैं।

भावार्थ—जितने स्थानमें पांचो द्रव्य देखनेमे आते है उसीको लोक कहते हैं। इसी लोकके ऊपर, नीचे और मध्य—ये तीन विभाग करके, तीनलोक कहे जाते है। लोक अर्थात् तीनलोकके भीतरके आकाशको लोकाकाश और उससे वाहरके अनन्त आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

अर्थ—जो द्रव्योंके परिवर्तनरूप है और परिणाम क्रिया आदिसे जाना जाता है वह व्यवहार-काल है। और जो वर्तना लक्षणका धारक है वह निश्चय-काल है।

भावार्थ—समय, घड़ी, पहर, दिन, महीना, और वर्ष आदिको व्यवहार-काल कहते हैं। यह कालकी पहचान संसारकी वस्तुओंके परिवर्त्तनसे स्थापित की गई है। क्योंकि जितने कालमें मन्द गतिसे एक परमाणु (पुद्गलका सवसे छोटा टुकड़ा) आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें गमन करता है उतने कालका नाम

समय है। भावार्थ—कालके सबसे छोटे हिस्सेका नाम समय है। जितने कालमें सूर्य्य उदय होकर और अस्त होकर फिर उदय होता है उसको दिन कहते हैं। उसही दिनके साठ विभाग करके घड़ी और आठ विभाग करके पहर स्थापित कर लिये हैं। इसी प्रकार महीने और वर्ष स्थापित किये गये हैं।

निश्चयसे काल द्रव्य पदार्थोंके परिणमनमे कुम्हारके चाककी कीलीकी तरह उदासीनरूपसे सहकारी कारण है। पदार्थ-परिणतिमें उस सहकारिताको ही वर्तना कहते हैं। और वर्तना जिसका लक्षण है वही कालाणु-रूप निश्चय-काल है।

कालके एक चक्करको कल्प कहते हैं, जो बीस कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसके दो भेद हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणीके ६ भेद हैं—सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, और दुखमा-दुखमा। उत्सर्पिणीके भी ६ भेद हैं, जिनका क्रम अवसर्पिणीसे विपरीत (उलटा) है। और वे ये हैं—दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, और सुखमा-सुखमा।

अवसर्पिणीके छहो कालोमे भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें निवास करने वाले जीवोके आयु, शरीर, बल, वैभवादि क्रमसे घटते हैं और उत्सर्पिणीके छहो कालोमे क्रमसे बढ़ते हैं। भावार्थ—अवसर्पिणीके १ ले, २ रे, ३ रे, ४ थे, ५ वे, ६ ठे कालकी रचना उत्सर्पिणीके ६ ठे, ५ वे, ४ थे, ३ रे, २ रे, १ ले कालकी रचनाके समान है। भेद केवल इतना ही है कि अवसर्पिणीमे आयु कायादिककी हानि होती है और उत्सर्पिणीमे वृद्धि होती है। भरत और ऐरावतके सिवाय अन्य क्षेत्रोंमें प्रायः कालकी रचना समान ही रहती है। अर्थात् किसी क्षेत्रमे सदा १ ले कालकी ही रचना रहती है, किसीमें दूसरे कालकी, किसीमें तीसरेकी, और किसीमें ४ थे कालकी। विदेह-क्षेत्रोंमें सदा ४ थे कालकी ही रचना रहती

है । चौथे कालमें ही ६३ शलाका पुरुष होते हैं और चौथे कालमें ही संसारसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है ।

आजकल इस भरतक्षेत्रमे, जिसमे हम तुम सब लोग निवास करते हैं अवसर्पिणीका पांचवाँ ‘ दुखमा ’ नामक काल वीत रहा है, जिसको ‘ पंचम-काल ’ कहते हैं । इसीसे दिनपर दिन मनुष्योंकी आयु, काय, वल, वैभव आदि घटते जाते है । यह पचम काल २१ हजार वर्षका है । चौवीसवें तीर्थंकरके मोक्ष जानेसे ६०५ वर्ष और ५ महीने पीछे पंचम कालमे शक राजा होता है । इसी हिसावसे आजकल २४५२ श्री वीर निर्वाण सम्वत् प्रचलित है—अर्थात् अभी तक २१ हजारमेंसे अनुमान इतने ही वर्ष पंचम कालके व्यतीत हुए हैं । शक राजाके ३९४ वर्ष ७ महीने पीछे अर्थात् तीर्थंकरके निर्वाणसे १ हजार वर्ष पश्चात् कल्की राजा होता है। यह कल्की धर्मसे विमुख आचरणमें लीन रहता है । इसी प्रकार एक एक हजार वर्ष वाद एक एक कल्की राजा होता है । तथा इन कल्कियोके वीच वीचमे एक एक उपकल्की भी होता है । परन्तु मुनि, आर्यका, श्रावक और श्राविकारूप चार प्रकार जिन-धर्मके संघका सद्भाव पंचम कालके अंत तक रहता है, अर्थात् पंचम कालके अंत तक धर्म वना रहता है और उसका लोप नहीं होता है । भावार्थ पंचम कालके अंत होनेपर धर्मका भी अंत हो जाता है और कोई राजा भी नहीं रहता है । फिर छठे कालमें मनुष्य धर्म-शून्य पशुओकी तरह मांसाहारी होते हैं और मरकर नरक वा तिर्यंच गतिको ही जाते हैं । फिर ऐसी ही खोटी गतियोसे आन कर जीव उसी छठे कालमे उत्पन्न होते हैं । यह छठा काल भी २१ हजार वर्षका ही होता है । छठे कालके अतमें अग्नि आदिकी ४९ दिन तक घोर वर्षा होती है, जिससे प्राय. सब जीव मर जाते हैं। इसीको महाप्रलय कहते हैं । परंतु यह प्रलय भरत और ऐरावत

क्षेत्रके आर्यखंडोमे ही होता है, अन्यत्र नही होता है। जो लोग सर्व जगतका प्रलय होना मानते है वे गलतीपर हैं—उनकी यह वात प्रमाण-विरुद्ध है।

सुखमा-सुखमा, सुखमा, और सुखमा-दुखमा—इन तीन कालोमें भोगभूमिकी रचना रहती है, अर्थात् खेती वाड़ी करना, मकान वनाना, भोजन तैयार करना, कपड़े सीना, तप संयम धारण करना आदि कोई काम नही होता है। वल्कि उस समय दस प्रकारके कल्पवृक्षो द्वारा सर्व प्रकारकी भोग-सामिग्री प्राप्त होती रहती है। सुखमा-दुखमा कालके अंतमे क्रमसे १४ कुलकर होते है, जो अधिक ज्ञानके धारी होते हैं और भोगभूमिया जीवोको अनेक प्रकारकी कर्मभूमिकी शिक्षा देते हैं। वे खेती करना, भोजन वनाना, कपड़े सीना, मकान वनाना, विवाह करना और तप-संयम धारण करना आदि कर्मभूमिकी रीति कहते हैं। चौदहवे कुलकर ये सव काम मनुष्योंको पूर्ण रीतिसे सिखला देते हैं। तव कर्मभूमिकी रीति प्रारम्भ हो जाती है। दुखमा-सुखमा, दुखमा, और दुखमा-दुखमा कालमे कर्मभूमिकी ही रीति रहती है।

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि॥२२॥

अर्थ—जो लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें रत्नोंकी राशि के समान परस्पर भिन्न भिन्न होकर एक एक स्थित हैं वे कालाणु हैं। और वे असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ—जितने स्थानमे एक परमाणु रक्खा जावे उसको प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है। प्रत्येक प्रदेशमें कालका एक एक अणु है। इस प्रकार सर्व लोकाकाशमे कालद्रव्य भरा हुआ है।

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार एक जीव-द्रव्य और पांच अजीव-द्रव्य—ऐसे छह भेदको लिये हुए द्रव्यका वर्णन किया गया। इन छहों द्रव्योंमेंसे काल-द्रव्यके सिवाय शेष पांच द्रव्योंको अस्तिकाय जानना चाहिये।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। काल-द्रव्य अस्तिकाय नहीं कहलाता है। इन पांचोको ही अस्तिकाय क्यो कहा है इसका हेतु-पूर्वक निरूपण अगली गाथामें किया गया है।

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव वहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

अर्थ—पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, ये पांचों द्रव्य विद्यमान है इस वास्ते जिनेश्वर इनको 'अस्ति' कहते है। और कायके समान ये द्रव्य वहु-प्रदेशी हैं इस कारण इनको 'काय' कहते हैं। इस हेतु ये पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

भावार्थ—अस्ति अर्थात विद्यमान् होना—मौजूद होना—यह गुण तो सव ही द्रव्यमे है, अर्थात् कालद्रव्य भी 'अस्ति' है, परंतु काल-द्रव्यके अणु भिन्न भिन्न एक एक हैं अर्थात् एक-एक-प्रदेशी हैं, इस कारण उसकी 'काय' संज्ञा नहीं हो सक्ती है। अन्य पांचो द्रव्य वहु-प्रदेशी हैं, इस हेतु वे अस्तिकाय कहलाते हैं। इसका व्योरा अगली गाथामें किया गया है।

हुंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ-जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं; आकाशमें अनन्त प्रदेश हैं और पुद्गलमें संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं। और कालका एक एक ही प्रदेश है, इस कारण काल 'काय' नहीं है।

भावार्थ-लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं। एक जीव सर्व लोकाकाशमे फैल सक्ता है, इस कारण जीव असंख्यात-प्रदेशी है। धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य सर्व लोकाकाशमे व्यापक हैं, इस कारण ये दोनो भी असंख्यात-प्रदेशी हैं। आकाश लोकाकाशसे भी बाहर अनन्त है, उसकी कुछ सीमा नही है; इस कारण वह अनन्त-प्रदेशी है। पुद्गल द्रव्यके अनन्त परमाणु हैं, परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो, चार, बीस, हजार, लाख आदि परमाणु मिलकर छोटा वा बड़ा स्कन्ध भी होता है, इसी हेतु पुद्गलको संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त-प्रदेशी कहा है। कालके अणु एक एक अलग २ हैं-वे मिलकर स्कंध नहीं होते हैं, इस कारण कालको काय नही कहते हैं।

पुद्गलका जब एक परमाणु अलग भी होता है तब उसको काय क्यो कहा जावे? इसका उत्तर अगली गाथामे दिया गया है।

पुद्गल-द्रव्य लोकाकाशमें ही है, अलोकाकाशमे नही है; और लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश है, तो पुद्गल-द्रव्यके प्रदेश असंख्यातसे अधिक अर्थात् अनन्त कैसे हो सक्ते हैं? इसका उत्तर यह है कि पुद्गलके परमाणु अनन्त है। जिस प्रकार लोहा पीतल आदि धातुमे अग्नि प्रवेश कर जाती है अर्थात् जिस स्थानमें लोहा पीतल आदिके परमाणु हैं उसही स्थानमें अग्निके भी परमाणु स्थान पालेते है। इसी प्रकार बहुतसी अवस्थामें पुद्गलमे अवगाहन अर्थात् स्थान देने वा स्थान पानेकी शक्ति होती है। इस कारण असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाशमें ही अनन्त पुद्गल-परमाणु

भरे हुए हैं। पुद्गल-परमाणुओके अनन्त होनेसे उनके प्रदेश भी अनन्त कहे गए हैं।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥ २६॥

अर्थ—एक प्रदेशका धारक परमाणु भी अनेक स्कंधरूप बहुत प्रदेशोंसे बहु प्रदेशी होता है। इस हेतु सर्वज्ञदेव पुद्गल-परमाणुको भी उपचारसे 'काय' कहते हैं।

भावार्थ—वही वस्तु काय कहाती है जो बहु-प्रदेशी हो। जब अनेक परमाणु मिल कर स्कंध हो तब ही पुद्गल कायवाला होता है। पुद्गलका एक परमाणु कायवाला नहीं है। परंतु ऐसे २ परमाणु मिल मिल कर ही स्कध बनते रहते हैं, इस हेतु उपचार नयसे एक परमाणु भी काय कहलाता है। तथा अवगाहन-शक्तिके द्वारा एक परमाणुमे भी अनेक परमाणु समा सक्ते हैं, जो मिलकर स्कध हो जाते हैं, परन्तु होते हैं वह सब एक ही प्रदेशमें अर्थात् उतनी ही जगहमें जितनीमे एक परमाणु समाता है, इस कारण परमाणुको भी स्कंध कहा है।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु वट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

अर्थ—अविभागी पुद्गल-अणु जितने आकाशको रोकता है वह प्रदेश है। वह प्रदेश सर्व परमाणुओंको स्थान देनेमें समर्थ है।

भावार्थ—सबसे छोटेसे छोटा अणु, जिसका विभाग न हो सके, परमाणु कहाता है। एक परमाणु जितने स्थानमें आवे उसको प्रदेश कहते हैं। परमाणुकी अवगाहन-शक्तिके कारण एक प्रदेशमें सर्व परमाणु समा सक्ते हैं। जैसे अग्नि लोहेके भीतर भी

प्रवेश कर जाती है, अर्थात् जिस स्थानमे लोहेके परमाणु हैं उसी स्थानमें अग्निके परमाणु भी अवगाह कर जाते हैं । अर्थात् एक प्रदेशमे अनेक परमाणु समा सक्के है ।

इति प्रथम अधिकारः ।

द्वितीय अधिकार ।

आसव-बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खा सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

अर्थ—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—इस प्रकार जीव और अजीवके भेद-रूप जो पदार्थ हैं उनका भी संक्षेपसे कथन करते हैं ।

भावार्थ—जीव और अजीव—ये दो ही प्रकारके पदार्थ हैं । जीवमे कर्मोंका आस्रव अर्थात् कर्मोंकी उत्पत्ति और जीवके साथ कर्मोंका बंध अजीव पदार्थके कारण होता है । कर्मोंके आनेको रोकना जिसको सम्वर कहते है, बंधे हुए कुछ कर्मोंको दूर करना जिसको निर्जरा कहते हैं, और सर्वथा कर्मोंको दूर करना जिसको मोक्ष कहते हैं—ये तीनो बाते अजीव पदार्थको जीवसे अलग करनेसे पैदा होती हैं ।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्व कहलाते हैं । अर्थात् मोक्षमार्गमे ये ही सात तंतकी वातें हैं ।

कर्म-बंध दो प्रकारका होता है—पापरूप और पुण्यरूप । इस कारण सात तत्वोके साथ पाप और पुण्यका कथन मिलाना भी आवश्यक है । पुण्य, पाप मिलकर नौ पदार्थ कहलाते हैं । अर्थात् मोक्ष-मार्गमे ये ९ बाते जरूर ही जानने योग्य है ।

जीव और अजीवका वर्णन पहले कर चुके हैं । आगे बाकीके

सात पदार्थोंका कथन करते हैं। गाथा २९, ३० और ३१ में आस्रवका, गाथा ३२ और ३३ में बंधका, गाथा ३४ और ३५ मे संवरका, गाथा ३६ मे निर्जराका, गाथा ३७ मे मोक्षका, और गाथा ३८ में पुण्य और पापका कथन है।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

अर्थ—आत्माके जिस परिणामसे कर्मका आस्रव होता है उस परिणामको श्रीजिनेन्द्र-भगवान भाव-आस्रव कहते हैं; और भावास्रवसे भिन्न ज्ञानावरणादि पुद्गल-कर्मोंका जो आस्रव है वह द्रव्य-आस्रव है।

भावार्थ—आत्माके प्रदेशोंमे हलन चलन होनेका नाम भाव-आस्रव है और द्रव्य-कर्म अर्थात् पुद्गल-परमाणुओका कर्मरूप होना द्रव्य-आस्रव है।

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग, और क्रोध आदि कपाय—ये पांच भेद भावआस्रवके हैं। मिथ्यात्वके पांच, अविरतिके पांच, प्रमादके पंद्रह, योगके तीन और कपायके चार भेद हैं। ऐसे क्रमसे भेद जानने चाहिये।

भावार्थ—आत्माके प्रदेशोंमें हलन चलन, जिससे कर्मकी उत्पत्ति होती है, पाच कारणोंसे होता है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कपाय।

१ मिथ्यात्व—पर पदार्थोंसे राग-द्वेप-रहित अपनी शुद्ध आत्माके अनुभवनमें श्रद्धान होनेको सम्यक्त कहते हैं। यह ही आत्माका निज भाव है। इसके विपरीत भावको मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व-भावके कारण संसारी जीवमे अनेक तरंग उठती है–जीवके शांत स्वभावका नाश होता है । इसीसे यह कर्मोंकी उत्पत्तिका कारण है । मिथ्यात्व पांच प्रकारका है–एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ।

वस्तुमे अनेक गुण होते हैं । जैसे दूध शरीरकी पुष्टी करता है, परन्तु वहुतसे रोगोंमे हानिकारक भी है । इस हेतु दूध लाभदायक भी है और हानिकारक भी है । जो मनुष्य २० वर्षका है वह १० वर्षके बालकसे वड़ा और ५० वर्षके मनुष्यसे छोटा है । इस हेतु वह बड़ा भी है और छोटा भी है । इस ही प्रकार वस्तुमे अनेक गुण होते हैं । परंतु संसारके अल्पज्ञ जीव वस्तुके एक ही विषयको लेकर उसके ही अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं । इसका ही नाम एकान्त-मिथ्यात्व है । जैसे पाप कर्म करनेकी अपेक्षा दान पूजादि पुण्य-कर्म करना बहुत अच्छा है । परन्तु मोक्ष-प्राप्तिकी अपेक्षा पुण्य-कर्म भी छोड़ने योग्य है । इस हेतु अनेक शास्त्रोमे जो पुण्य-कर्मका उपदेश दिया गया है उसको सम्पूर्ण धर्म मान लेना एकान्त-मिथ्यात्व है । श्रीवीतराग भगवान, हमारा न कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं, क्योकि वे तो राग द्वेषसे रहित हैं । परन्तु उनका ध्यान करनेसे, उनकी वीतरागताका चिंतवन करनेसे हमारे परिणामोंमे वीतरागता आती है, जिससे पाप-कर्मोंका क्षय होता है । इस हेतु उपचारनयसे वे हमारे दुःखोको दूर करने वाले हैं । परंतु उनको साक्षात् दुःखोका दूर करने वाला कर्त्ता–परमेश्वर मानना एकान्त-मिथ्यात्व है । स्नान आदि शरीरशुद्धि और शुचि-क्रियासे मनकी मलिनता दूर करनेमें संसारी जीवोको सहायता मिलती है, परन्तु स्नान करने वा शुचि क्रियाको ही धर्म मानना और मनकी शुद्धिका कुछ भी विचार न करना एकान्त-मिथ्यात्व है । इसका ऐसा दृष्टांत है कि अग्नि जलानेसे रोटी बनती है, परन्तु अनाज पीस कर आटेको पानीमें

गूंद कर और रोटी थेपकर अग्निसे तपे हुए तवे पर सेंकनेसे रोटी बनती है। यदि कोई न तो तवा तपावे, न आटा लावे, वरन चूल्हेमें अग्नि जला देना ही काफी समझे तो वह एकान्त-मिथ्यात्वी है। उसकी क्रियासे कभी रोटी न बन सकेगी और उसका आग जलाना व्यर्थ ही जावेगा। इसी प्रकार एकान्त-मिथ्यात्वके हजारो लाखो दृष्टान्त दिये जा सक्ते हैं। और यदि जांच की जावे तो अन्य मतके बहुतसे सिद्धान्त एकान्त-मिथ्यात्वको ही लिये हुए हैं। परन्तु शोक है तो यह है कि हमारे बहुतसे जैनी भाई भी जैन शास्त्रोको न पढ़नेके कारण एकान्त-मिथ्यात्वमें फंसे हुए हैं।

उल्टी बात माननेको विपरीत-मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे हिंसामे धर्म मानना।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अपेक्षा न करके अर्थात् इस बातको विचार न करके कि जिसकी मैं विनय करता हूँ उसमे सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन गुण हैं वा नही, समस्त देव कुदेवोकी विनय करना और समस्त प्रकारके दर्शनों (मतो) को धर्म मानना विनय-मिथ्यात्व है।

किसी वस्तुको संशय रूप मानना संशय-मिथ्यात्व है, अर्थात् ठीक ठीक यकीन न होना, भ्रम रहना कि यह बात ऐसे है या दूसरी प्रकार है। जैसे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षका मार्ग है या नहीं।

हिताहितकी परीक्षा-रहित श्रद्धानका नाम अज्ञान-मिथ्यात्व है। जैसे वृक्षादि एकेंद्री जीवोको अपने हिताहितका कुछ भी ज्ञान नहीं है, वा बहुतसे मनुष्य अपने सांसारिक कार्योंमें ऐसे लगे रहते हैं कि धर्मका कुछ भी ज्ञान प्राप्त नही करते हैं–धर्मसे ऐसे ही अज्ञानी रहते हैं। जैसे पशु, वृक्ष आदि। वे सब अज्ञान-मिथ्यात्वी हैं।

२ अविरति—अपने ही शुद्ध आत्मीक परम सुखमे आनन्दित रहना आतमाका निज स्वभाव है । उस परम आनन्दसे विमुख होकर जब यह जीव वाह्य विषयोमे लगता है उसको अविरति कहते हैं। वे अविरति पांच है—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, और परिग्रह । इन्हींके त्यागको व्रत कहते हैं । अथवा ये ही अविरति मन और पांचो इन्द्रियोकी प्रवृत्तिरूप ६ भेद तथा छह कायके जीवोंकी विराधनारूप ६ भेद—ऐसे दोनों मिलाकर १२ प्रकारकी भी हैं ।

कषायरूप परिणामसे अपने वा पर जीवके द्रव्यप्राण वा भावप्राणका घात करना हिंसा है । क्रोधादि कषाय उत्पन्न होनेसे अपने शुद्धोपयोगरूप शांत परिणाममे वाधा पड़ती हैं, इस हेतु अपने भावप्राणोंका घात होता है । इन्हीं क्रोधादि कषायसे आँखोंका लाल होना, चहरेका चढ़ना, अपने हस्त पादादिका टूटना आदि शरीरमें विकार होना अपने द्रव्यप्राणोमें बाधा आना है । यह भी हिंसा है । दूसरे जीवको कुवचन कहना, उसकी तरफ कुचेष्टा करना आदिसे उसके परिणामोमे पीड़ा पहुंचाना उस जीवके भावप्राणको घात करना है । यह भी हिंसा है । दूसरे जीवके शरीरके किसी अंगको छेदना, काटना आदि उसके द्रव्यप्राणको घात करना है । यह भी हिंसा है ।

कषायके योगसे अपनेको वा परको हानिकारक अनुचित बचन बोलना असत्य है ।

बिना दिये हुए पदार्थको कषायसे ग्रहण करना चोरी है ।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसंकवेदके उदयसे पुरुष वा स्त्रीसे मैथुन करना अब्रह्म है ।

संसार—सम्बंधी वस्तुओसे ममत्व-परिणामका नाम परिग्रह है ।

३ प्रमाद—शुद्ध आत्म-अनुभवसे डिगना-फिसलना-सावधान नं रहना और व्रतादिके विषय अनादरका होना प्रमाद है । चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियोंके विषय, निद्रा और राग—ये

१५ भेद प्रमादके हैं।

ऐसी वार्ताका कहना वा सुनना जो संयमके विरोधी हो—आत्माके शुद्ध परिणामको विगाडने वाली हो उसको विकथा कहते हैं। उसके मोटे-रूप चार भेद हैं—स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भोजनकथा।

आत्माके शुद्ध स्वरूपमें क्षोभ उत्पन्न करने वाला जो परिणाम है उसको कषाय कहते हैं। वह चार प्रकार है—क्रोध, मान, माया, और लोभ। तथा अनन्तानुवंधी आदि और हास्य आदि भेदसे कषायके २५ भेद हैं।

इन्द्रियोंके विषयोंमें लगना भी आत्माके शुद्ध परिणामको विगाड़ने वाला है। इन्द्रिय पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और कर्ण।

निद्रासे भी असावधानी होती है।

राग किसी वस्तुसे स्नेह करनेको कहते हैं। यह तो सवसे ही अधिक प्रमादरूप है।

४ योग—शरीरके हिलनेके कारण शरीरमें व्यापक जीवात्मा भी हिलता है। शरीरका हिलना तीन प्रकारसे होता है। मनमें कुछ चिन्तवन करनेसे द्रव्यमन अर्थात् आठ पांखड़ीका कमलके आकार जो शरीरके अन्दर मन है वह हिलता है। उसके हिलनेसे जीवात्मा हिलता है। इसको मनयोग कहते हैं। वचन वोलनेमे जिह्वा आदि शरीरके अंग हिलते हैं उससे जीवात्मा हिलता है। यह वचनयोग है। हाथ, पैर आदि शरीरके अन्य अंगोंके हिलनेसे जीवात्मा हिलता है उसको काययोग कहते हैं। जीवात्मामें जव जव हलन-चलन पैदा होगा तभी कर्मोंका आस्रव होगा। ऐसे संक्षेपसे योग तीन प्रकार है, और विस्तारसे २५ भेदरूप है।

५ कषाय—मान, माया, लोभ, और क्रोध—ये चार कषाय हैं।

इनसे तो आत्माके परिणाममें विकार पैदा होकर कर्मोंकी उत्पत्ति होती ही है।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि कर्मरूप होनेके योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्य-आस्रव जानना चाहिये। इसके अनेक भेद हैं। ऐसा श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है।

भावार्थ—किसी वस्तुमे विकारका होना किसी अन्य वस्तुके मिलनेसे ही हो सक्ता है। जीवात्मामे विकार उत्पन्न करनेके अर्थ अजीव पदार्थका ही मिलना हो सक्ता है। अजीव द्रव्योमेसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन चार द्रव्योमे तो जुड़ने और टुकडे होनेकी शक्ति ही नही है। यह गुण तो पुद्गलमे ही है। इस हेतु पुद्गल परमाणुओंके ही मिलनेसे जीवात्मा विकारी होता है। शीतल जल अग्निके समीप होनेसे गरम हो जाता है। पानीके शीतल स्वभावके विपरीत गरम भाव हो जाने अर्थात् गर्मीका विकार पैदा हो जानेका यह ही कारण होता है कि शीतल जलमें अग्निके परमाणु सम्मिलित हो जाते हैं। अग्निके परमाणुओके मिलनेके विना शीतल जलमें गर्मीका बिकार नहीं आ सक्ता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी द्रव्यकर्म अर्थात् पुद्गल-परमाणुओके मिलनेसे ही विकारी हो रहा है।

पुद्गलद्रव्य अनेक पर्य्याय धारण करता है। नीमके बीजमें जल सींचनेसे वह जल नीमके वृक्षके मूल, स्कंध, टहनी, पत्ते, फूल और फलरूप होता है और कड़वी ही कड़वी वस्तु पैदा करता है। उसी जलसे नीवूका बीज सींचनेसे वही जल नीबूके वृक्षके स्कंध, टहनी, पत्ते और फूलरूप होता है, और खट्टा नीबू पैदा करता है। वही जल मिरचके वृक्षमे जानेसे चरपरी मिरचरूप हो जाता है।

और वही जल ईखमे जाकर अत्यन्त मधुर रस धारण करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप हो रहा है वह ही अनेक प्रकारकी पर्य्याय धारण कर लेता है। मनुष्यके शरीरमे वही दूध मनुष्यके शरीरके आकारकी मांस, हड्डी, खून, वीर्य्य आदि सप्त धातु और आंख, कान, हाथ, पैर आदि वनाता है । वही दूध विल्लीके शरीरमे जाकर विल्लीके शरीरके अनुसार सव वस्तु वनाता है । सर्पके शरीरमें जाकर सर्पके अनुसार जहर आदि वस्तु वनजाता है। इसी प्रकार जीवात्मामें भावास्रवके द्वारा परिणमन होनेसे उस जीवात्माके समीपवर्ती पुद्गलपरमाणु आकर्षित होकर कर्मरूप वन जाते हैं। जिस प्रकार वीज वा वृक्षसे आकर्षित मिट्टी, पानी, वायु और धूप आदिके परमाणु उस वृक्षके स्कंध, मूल, टहनी, पत्ते, फूल और फलरूप अनेक प्रकारकी पर्याये धारण करते हैं। उसी प्रकार जीवके भाव आस्रवसे आकर्षित परमाणु भी ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकारके कर्मरूप वन जाते हैं।

मोटेरूप कर्मोंके आठ भेद किये गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१ ज्ञानावरणीय—जो जीवके ज्ञानको ढाँके। इसके ५ भेद हैं।

२ दर्शनावरणीय—जो जीवके दर्शनको ढाँके। इसके ९ भेद हैं।

३ वेदनीय—जो सुख और दुःख अनुभव करावे तथा सुख-दु:खकी सामिग्री पैदा करे।

४ मोहनीय—इसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जो जीवके सच्चे श्रद्धानको भ्रष्ट करके मिथ्यात्व उत्पन्न करावे वह दर्शनमोहनी है । इसके ३ भेद हैं। जो जीवके शुद्ध और शान्त चारित्रको विगाड़ कर कषाय उत्पन्न करावे वह चारित्र-मोहनी है । इसके २५ भेद हैं । इस प्रकार मोहनीके कुल २८ भेद हैं।

५ आयु–जो एक पर्यायमें जीवकी स्थितिका कारण हो। इसके ४ भेद हैं।

६ नाम–जो शरीरका अनेक प्रकारका रूप पैदा करावे। इसके ९३ भेद है।

७ गोत्र–जो ऊंच वा नीच अवस्थाको प्राप्त करावे। इसके दो भेद हैं।

८ अन्तराय–जो अन्तर डाले–विघ्न पैदा करे। इसके ५भेद हैं।

इस प्रकार कर्मोंके १४८ भेद मोटेरूपसे किये गये हैं। वास्तवमें कर्मके अनन्त भेद हैं। १४८ भेदोका भिन्न २ वर्णन आगामी बंधके वर्णनमे किया जावेगा।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भाववंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ ३२॥

अर्थ–आत्माके जिस भावसे कर्म आत्मासे वंधता है वह भावबंध है। और कर्म और आत्माके प्रदेशोंका सम्मिलित होना द्रव्यवंध है।

भावार्थ–आत्माके जिस विकारभावसे जीवात्मामें कर्म वंध होता है उस विकारभावको भाववंध कहते हैं। और उस विकारभावके कारण कर्मरूप पुद्गल-परमाणुओंका आत्माके प्रदेशोंमें सम्मिलित होना–जिस प्रकार दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं उस प्रकार मिलजाना–इसको द्रव्यवंध कहते हैं।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥३३॥

अर्थ–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश–इन भेदोंसे बंध चार प्रकारका है। योगोंसे प्रकृति और प्रदेशबंध होता है। और कषायसे स्थिति और अनुभागबंध होता है।

भावार्थ–कर्म जिस प्रकारका है, अर्थात् कर्म जिस स्वभावको लिये हुए है उसको प्रकृति कहते हैं। जितने समय तक वह कर्म आत्माके साथ रहेगा उसको स्थिति कहते हैं । तीव्र वा मंद अर्थात् हलका वा भारी जैसा उस कर्मका फल है उसको अनुराग कहते हैं । कर्मोंका आत्माके प्रदेशोंसे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बंध होना उसको प्रदेशबन्ध कहते है । एक कर्मके कमती बढती जितने परमाणु होते है उतना ही प्रदेश वह आत्माका घेरेगा, इस कारण पुद्गल-कर्मके कमती वढ़ती परमाणुओको प्रदेशवंध कहते है। इस प्रकार वंधका वर्णन महान ग्रन्थोंमें चार प्रकार किया गया है।

कषायसे जो योग होता है अर्थात् कषाय-सहित मन-बचन-कायकी जो क्रिया होती है उसको लेश्या कहते है । उसीसे वंध होता है । विना कषायके मन, वचन वा कायकी क्रिया होनेसे प्रकृति और प्रदेश-वन्ध ही होता है, स्थिति और अनुभाग नही होता है। अर्थात् शरीरके हिलनेसे शरीरके अन्दर व्यापक आत्मा भी हिलती है । यदि यह हिलना विना किसी कषायके है तो कर्म तो उत्पन्न हो ही जावेगा और आत्माके हिलनेके अनुसार वह उत्पन्न हुआ कर्म किसी न किसी प्रकारका भी होगा अर्थात् कोई प्रकृति उस कर्मकी अवश्य होगी और कमती वढ़ती उसके परमाणु भी होगे। इस प्रकार प्रकृति और प्रदेश दोनों बातें पैदा हो जावेगी। परन्तु विना कषायके वह कर्म जीवात्माके साथ सम्मिलित नहीं होगा। विना कषायके उत्पन्न हुआ कर्म तुरंत ही नाश हो जायगा। उसमें कोई स्थिति नहीं होगी और न उसमें कोई रस होगा। कर्मकी स्थिति और अनुभाग ये दो वाते कषायसे ही उत्पन्न होती हैं, इस हेतु यदि योग कषाय-साहित है तो कर्मबंधकी चारो वातें पैदा हो जावेगी।

मन, वचन और कायकी क्रिया क्रोध, मान, माया और लोभ कषायमेंसे किसी कषायके द्वारा होनेसे कर्मबंध होता है। क्रिया

भी तीन प्रकारकी हैं-समरंभ अर्थात् इरादा करना, समारंभ अर्थात् उस कार्यकी सामिग्री इकट्ठी करना, और आरंभ अर्थात् उस कार्यको करना। इनके भी तीन तीन भेद हैं–कृत–आप करना, कारित–दूसरेसे कराना, और अनुमोदना–करतेको भला जानना। इस प्रकार कर्म-बंधके कारणोंके अनेक भेद हैं। अब पृथक २ वर्णन करते हैं।

प्रकृतिबन्ध।

अब कर्मोंकी १४८ प्रकृतिका वर्णन करते हैं।

ज्ञानावरणीय–मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्य्यय और केवल–इस प्रकार ज्ञानके ५ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार इनके आवरण अर्थात् ढकने वाले ज्ञानावरणीय कर्मके ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय–दर्शनके चार भेद हैं–चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। इसी प्रकार इनके ढकने वाले दर्शनावरणीय कर्मके चार भेद हैं। इसके अतिरिक्त निद्रा भी दर्शनको नहीं होने देती है। गहरी नींद और हलकी नींदकी अपेक्षा निद्राके निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि–ऐसे ५ भेद करके दर्शनावरणके ९ भेद होते हैं।

मोहनीय–दर्शनमोहनीयका बन्ध तो मिथ्यात्वरूप एक ही प्रकार होता है, परन्तु उदयमें आकर उसके तीन भेद हो जाते हैं, जिनका वर्णन आगामी रत्नत्रयके वर्णनमें किया जावेगा। चारित्रमोहनीयके कषाय और नो अकषाय–ऐसे दो भेद है। जिनमें कषायके मूल भेद क्रोध, मान, माया, लोभ, और फिर प्रत्येकके चार चार भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन हैं। अनन्तानुबन्धी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धान न हो सके। अप्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धान तो हो सके परन्तु श्रावकका वा मुनिका अर्थात् किसी भी प्रकारका चारित्र न हो सके। प्रत्याख्यानी वह

कषाय है जिसके उदय होते हुए गृहस्थी-श्रावकका चारित्र तो हो सके परन्तु मुनिधर्म ग्रहण न हो सके । संज्वलन वह सूक्ष्म कषाय है जिसके होते हुए मुनि धर्म तो हो सके परन्तु यथाख्यातचारित्र न पल सके । इस प्रकार कषायके १६ भेद हुए । और नोकषायके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद, ये ९ भेद हैं । इस प्रकार चारित्रमोहनीके कुल २५ भेद हैं ।

आयु–नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-इस प्रकार आयुके ४ भेद हैं ।

वेदनीय–साता और असाताके भेदसे वेदनीय दो प्रकार है । जिसके उदयसे सुखरूप सामिग्रीकी प्राप्ति हो वह सातावेदनी है और जिसके उदयसे दु:खदायक सामिग्रीकी प्राप्ति हो वह असातावेदनी है ।

गोत्र–उच्च और नीच–ऐसे गोत्र दो प्रकार हैं ।

अन्तराय–दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य अर्थात् शक्ति–इनमे विघ्न करनेवाला पांच प्रकारका अन्तराय-कर्म है ।

नाम–जिसके उदयसे शरीरकी आकृति, उनका रंग, गंध, रस, स्पर्श और हड्डियोका जोड़ आदि होता है । नामकर्मके ९३ भेद किये गए हैं ।

नामकर्मके ९३ भेद ।

गति–जिसके उदयसे आतमा एक भवसे दूसरे भवमें गमन करता है । गति ४ प्रकार है–नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य ।

जाति–जीवकी जाति अर्थात् किसम ५ प्रकार है–एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पचेंद्रिय । जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय जाति हो वह एकेन्द्रिय-जाति-नामकर्म है । इसी प्रकार पाचों जानना ।

शरीर–जिसके उदयसे ससारी जीवोंके शरीरकी रचना हो, वह शरीर-

नाम-कर्म पांच प्रकारका है। वृक्षादि स्थावर, पशु, पक्षी और मनुष्यका शरीर अर्थात् स्थूल देह **औदारिक** है। देव, नारकियोका शरीर **वैक्रियिक** है अर्थात् विक्रिया कर सक्ता है—अनेक प्रकारका रूप धारण कर सक्ता है। प्रमत्तगुणस्थानी मुनि महाराजको शंका उत्पन्न होने पर उनकी आत्मा शरीरसे बाहर फैल कर जहा श्रीकेवली वा श्रुतकेवली भगवान हों वहा तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीरमें ही संकुचित हो जाता है। उस समय मुनिके जो शरीर प्रगट होता है उसको **आहारक** शरीर कहते हैं। शरीरमें जिससे तेज होता है वह **तैजस** शरीर है। ऋद्धि-धारक मुनिको क्रोध वा दया उत्पन्न होने पर किसीको नष्ट करने वा उपकार करनेके वास्ते जो पुतला निकलता है वह भी तैजस शरीर है। कर्मके पुद्गल-परमाणुओंका नाम **कार्माण** शरीर है। *कार्माण* और तैजस—ये दो शरीर ससारी जीवोंके सदा बने रहते हैं, जब तक कि मुक्ति नहीं होती है।

आङ्गोपाङ्ग—मस्तक, पीठ, हृदय, बाहु, उदर, नलक, हाथ, पांव—इनको अग कहते है। और ललाट, नासिका आदि उपांग है। आंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार है—औदारिक-शरीरांगोपांग, वैक्रियिक-शरीरांगोपाग, आहारक-शरीरांगोपाग। जिसके उदयसे अंग-उपांगोंका भेद प्रकट होता है वह आगोपाग नामकर्म कहलाता है।

निर्माण—जिस कर्मके उदयसे आगोपांगोंकी उत्पत्ति होती है, वह निर्माण नामकर्म है। यह दो प्रकार है—**स्थान-निर्माण** और **प्रमाण-निर्माण**। आंगोपागोंका योग्य स्थानमें निर्माण होना स्थान-निर्माण है; और आगोपांगोंकी योग्य प्रमाण लिये रचना होना प्रमाण-निर्माण है।

बन्धन—जिसके उदयसे शरीर-नामकर्मके वशसे ग्रहण किये हुए पुद्गल-परमाणुओंका शरीररूप बन्धन होता है वह बन्धन-नामकर्म पांच प्रकार है—**औदारिक-बन्धन**, **वैक्रियिक-बन्धन**, **आहारक-बन्धन**, **तैजस-बन्धन** और **कार्माण-बन्धन**।

संघात—जिसके उदयसे शरीरमें छिद्र-रहित एक-दूसरेके प्रदेशोंमें

प्रवेशरूप संघटन (एकता) होवे उसे सघात-नाम-कर्म कहते है। वह भी पाच प्रकार है—औदारिक-संघात, वैक्रियक-संघात, आहारक-संघात, तैजस-संघात और कार्माण-संघात।

संस्थान—अर्थात् शरीरकी आकृतिका होना। यह छह प्रकारका है—१ **समचतुरस्र-संस्थान** अर्थात् ऊपर, नीचे और मध्यमे समान विभागसे शरीरकी आकृतिका उत्पन्न होना। २ **न्यग्रोधपरिमण्डल-सस्थान** अर्थात् वटवृक्षके समान शरीरका नाभिके नीचेका भाग पतला होना और ऊपरका मोटा होना। ३ **स्वाति-संस्थान** अर्थात् शरीरका नीचेका भाग मोटा होना और ऊपरका पतला होना। ४ **कुब्जक-संस्थान** अर्थात् कूब निकला हुआ कुबड़ा शरीर। ५ **बामन-संस्थान** अर्थात् छोटा शरीर, जिसको वावना कहते है। ६ **हुडक-संस्थान** अर्थात् विल्कुल वेडौल शरीर।

संहनन—अर्थात् शरीरकी हड्डियोंका जोड़। सहनन नाम हाड़ोके समूहका है। नसोंसे हाड़ोंके वेष्टित होनेका नाम ऋषभ वा वृषभ है। कीलोंके द्वारा हाडोंके जुडनेका नाम नाराच है। सहनन ६ प्रकारके है—१ **वज्रवृषभनाराच-संहनन** अर्थात् हाड, कील, नस, सब वज्रके समान मजबूत हों। २ **वज्रनाराच-संहनन** अर्थात् हाड और कील वज्रके समान हों और नस सामान्य हों। ३ **नाराच-संहनन** अर्थात् हाडोंकी संधि कीलोसे जुडी हुई हो, परन्तु वज्रके समान कोई न हों, सब सामान्य हों। ४ **अर्धनाराच-संहनन** अर्थात् हाडोंकी संधि आधी कीलोसे जुडी हों। ५ **कीलक-संहनन** अर्थात् नाराच न हो—कील ठुकी हुई न हों, हाड ही आपुसमें कीले हुए हों। ६ **असंप्राप्ता-सृपाटिका-संहनन** अर्थात् हाड आपुसमें ठुके हुए न हों, वरन दो हाड मिलाकर उनपर नस और मास आदि लिपटा हुआ हो।

स्पर्श—अर्थात् शरीरमें स्पर्श गुणका होना। यह ८ प्रकार है—कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण।

रस—अर्थात् शरीरमें रसका होना। यह ५ प्रकार है—तिक्त, कटु,

कषाय, आम्ल और मधुर ।

गंध—अर्थात् शरीरमें गंधका होना । यह दो प्रकार है—सुगंध, दुर्गंध ।

वर्ण—अर्थात् शरीरमें रङ्गका होना । यह पांच प्रकार है—शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त और पीत ।

आनुपूर्व्य—पूर्व आयुके उच्छेद होने पर जब जीव शरीर छोड़ कर दूसरे शरीरमें जाता है तब जीव छूटने वाले शरीरमें मौजूद रह कर बाहर निकलता है और उस स्थान तक पहुंचता है जहां उसको नवीन शरीर धारण करना है । वहां पहुंच कर प्रथम शरीरको छोड़ देता है और सुकड़ कर दूसरे शरीरमें समा जाता है । इस प्रकार दूसरे शरीरको ग्रहण करने और प्रथम शरीरके छोड़नेकी क्रियाको विग्रहगति कहते हैं । इस गतिमें तैजस और कार्माण दो शरीर रहते हैं । जब तक नवीन शरीरमें नहीं समा जाता है तब तक तैजस और कार्माण शरीरोंका आकार वैसा ही रहता है जैसा पूर्व शरीरका था । उस आकारके रहनेका कारण आनुपूर्व्य-नाम कर्म है । जब जीव शरीरमें समा जाता है तब तैजस और कार्माण शरीरोंका आकार नवीन शरीरके अनुसार हो जाता है । आनुपूर्व्यके चार भेद हैं—१ **नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य** अर्थात् नरक-गतिमें जाते हुए जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशोंका रहना । २ **देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य** अर्थात देव-गतिमें जाते हुए जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशोंका रहना । ३ **मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य** अर्थात् मनुष्य-गतिमें जाते हुए जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशोंका रहना । ४ **तिर्यग्गति-प्रायोग्यानुपूर्व्य** अर्थात् तिर्यञ्च-गतिमें जाते हुए जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशोंका रहना ।

अगुरुलघु—जिसके उदयसे शरीर न तो ऐसा भारी हो जो नीचे गिर जावे और न ऐसा हलका हो जो आककी रूईकी तरह उड़ जावे ।

उपघात—शरीरके अवयवोंका ऐसा होना कि आपही अपनेको बांध लेवे और आप ही अपना घात कर ले ।

परघात—सींग, नख और विष आदि परका घात करने वाली

चरतुका शरीरमें होना ।

आताप–ऐसे शरीरका होना जिसमे आगके समान गर्मी हो ।

उद्योत–ऐसे शरीरका होना जिसमें उद्योत अर्थात् रोशनी हो ।

उच्छ्वास–सास लेना ।

विहायोगति–ऐसा शरीर होना जो आकाशमें गमन कर सके । यह दो प्रकारका है–**प्रशस्त** और **अप्रशस्त** ।

प्रत्येक–एक ही जीवके वास्ते एक शरीरका होना ।

साधारण–बहुत जीवोंका एक ही शरीर होना । अनन्त निगोदिया जीवोंका एक ही शरीर होता है । उन सबका जन्म, मरण और सास लेना आदि सब क्रियाएँ इकट्ठी ही होती है । ये निगोदिया जीव वनस्पति काय ही होते है ।

त्रस–दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चतुरेंद्रिय वा पचेंद्रियरूप शरीरका होना ।

स्थावर–शरीरका पृथ्वी आदि एकेंद्रीरूप उत्पन्न होना ।

सुभग–ऐसा शरीर जिसको देख कर देखनेवालेको प्रीति उत्पन्न हो ।

दुर्भग–ऐसा शरीर जिसको देख कर अप्रीति उपजे ।

सुस्वर–जिसके उदयसे स्वर सुन्दर होवे ।

दुःस्वर–जिसके उदयसे स्वर खराब हो ।

शुभ–शरीरके अवयव देखनेमें सुन्दर हों ।

अशुभ–शरीरके अवयव देखनेमें सुन्दर न हों ।

सूक्ष्म–ऐसा बारीक शरीर हो कि वह किसी वस्तुसे न रुके–लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिके बीचमेंसे भी निकल जावे ।

बादर–जो सूक्ष्म न हो अर्थात् स्थूल शरीर हो और रुके ।

पर्याप्ति–आहार आदि जो पर्याप्ति कहाती हैं उनका प्राप्त होना । ये छह प्रकार है–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ।

अपर्याप्ति–जिसके उदयसे जीव छहों पर्याप्तिमेंसे एक भी पर्याप्तिको पूर्ण नहीं कर सके उसे अपर्याप्ति-नामकर्म कहते है ।

स्थिर–उपवास और तपश्चरण तथा कष्ट आदिके आने पर भी

शरीरमें स्थिरताका बना रहना और शरीरके धातु-उपधातुका अपने २ स्थानमें स्थिर रहना ।

अस्थिर–किंचित कारण पाकर शरीरके धातु उपधातुकी स्थिरताका विगड़ जाना ।

आदेय–प्रभा-सहित शरीरका होना ।

अनादेय–शरीरका प्रभा-रहित होना ।

यशःकीर्ति–यश और कीर्तिका होना ।

अयशःकीर्ति–अपयश और अकीर्तिका होना ।

तीर्थंकरत्व–तीर्थंकर पदवी अर्थात् अरहंतपदका प्राप्त होना ।

इस प्रकार ९३ प्रकृति नामकर्मकी है ।

मन, वचन और काय, ये तीन प्रकारके योग हैं । इन्हींके अनुसार प्रकृति और प्रदेश-बन्ध होते है । योगोकी चंचलता जैसी कमती बढ़ती होती है वैसा ही कमती बढ़ती प्रकृति और प्रदेश-बन्ध होता है । योगके द्वारा एक समयमे कर्मके जितने परमाणु उत्पन्न होते हैं वह आठो प्रकारके कर्मोंमे बँट जाते हैं । अधिक भाग वेदनीमे, उससे कम मोहनीमे, उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमे और उससे कम नाम और गोत्रमे जाता है । वेदनी, गोत्र और आयु–इनकी उत्तर प्रकृतियोमे एक ही एक प्रकृतिका एक समयमें बन्ध होता है, अर्थात् वेदनीमे साताव असातामेंसे एकका, गोत्रमें उच्च वा नीचमेंसे एकका, आयुकी चार प्रकृतिमेसे एकका, मोहनीकर्ममे जो नो-कषाय हैं उनमें तीन वेदमेसे एक वेदका, रति अरतिमेसे एकका, और हास्य और शोकमेसे एकका बन्ध होता है । मोहनी कर्मकी वाकी सर्व प्रकृति और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तरायकी सर्व प्रकृतियोका बन्ध एक ही समयमे होता है । नामकर्ममे जो जो प्रकृति एक-दूसरेके प्रतिपक्षी हैं उनमेसे एक ही प्रकारकी प्रकृतिका बन्ध एक समयमे होता है । इस प्रकार जिन २ प्रकृतियोका एक समयमें

वन्ध हो सक्ता है उन सवमें एक समयमें आये हुए कर्म-परमाणु तकसीम हो जाते हैं। जिस अवस्थामे वा जिस गुणस्थानमे जिन जिन प्रकृतियोका वन्ध होही नहीं सक्ता है उस उस अवस्थामें जो जो प्रकृतियाँ वन्ध योग्य नहीं हैं उनमें कर्म-पुद्गलका वटवारा भी नहीं होता है।

जिस प्रकार एक समयमे जो वस्तु मनुष्य खाता है उसके परमाणुओसे हड्डी, नस, खून, मांस, चाम, वीर्य, कफ, पसीना, पेशाव और पाखाना आदि सव ही वनता है, अर्थात् प्रत्येक खाई हुई वस्तुके परमाणु हड्डी, मांस आदि रूप वँटजाते हैं, और फिर सिरकी हड्डी, पैरकी हड्डी, हाथकी हड्डी आदि विभागोंमें और आख, नाक, हृदय, पेट आदि अवयवोंमें वँटते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक समयमे योगोके द्वारा उत्पन्न हुए कर्म-परमाणुओंका वटवारा होता है।

स्थिति-वंध।

जो वस्तु हम खाते हैं उसमेंसे किसी वस्तुका असर हमारे शरीरमें अधिक समय तक रहता है और किसीका वहुत थोडे समयतक। यही दशा कर्मोंकी है। कोई कर्म अधिक समयतक रहता है और कोई थोडे समयतक। इसीको स्थिति-वंध कहते हैं। स्थिति-वंध कषायके अनुसार है। कषाय जैसी हलकी भारी होगी वैसी ही कर्मकी स्थिति होगी। कषाय हलकी अर्थात् मंद है तो कर्मकी स्थिति भी कमती होगी और कषाय तेज अर्थात् तीव्र है तो कर्मकी स्थिति भी ज्यादा होगी।

अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन–ये चार भेद जो कषायके किये गये हैं वे कषायकी तीव्र वा मन्द अपेक्षासे नहीं हैं। वे तो सम्यक्त वा चारित्र ग्रहण करनेकी अपेक्षासे हैं। तीव्र मन्दकी अपेक्षा कषायोंके हजारों और लाखों दर्जे हो सक्ते हैं, परन्तु मोटेरूप चार दर्जे हैं–अति तीव्र, तीव्र,

मंद और अति मंद ।

अनुभाग-बंध ।

जो वस्तु हम खाते हैं उनमेसे कोई वस्तु तो ऐसी होती है जो पेटमे वा शरीरके किसी दूसरे अंगमे पीड़ा कर दे। कोई वस्तु कम पीड़ा देनेवाली होती है और कोई अधिक पीड़ा देनेवाली। इसी प्रकार कोई वस्तु पीड़ाको दूर करने वाली और हर्ष पैदा कराने वाली होती है । इसमे भी कोई कमती हर्ष उत्पन्न करानेवाली होती है और कोई ज्यादा । इसी प्रकार किसी समय कर्म अधिक फल देनेकी शक्तिवाला और किसी समय कम फल देनेकी शक्तिवाला पैदा होता है। इसीको अनुभाग-बंध कहते हैं । वह परिणाम जिससे कर्म उत्पन्न हो जितना अधिक संक्लेशरूप होगा उतना ही अशुभ कर्मोंका अधिक अनुभाग-बंध और शुभ कर्मोंका कमती अनुभाग-बंध होगा। और वह परिणाम जितना विशुद्धरूप होगा उतना ही शुभ कर्मोंका अधिक अनुभाग-बंध और अशुभ कर्मोंका कमती अनुभाग-बंध होगा ।

कर्मोंका अलटना पलटना ।

हमने एक वस्तु ऐसी खाई जो हमारे शरीरमें पीड़ा कर रही है। दूसरी कोई वस्तु ऐसी भी हो सक्ती है जो पीड़ाको दूर करनेवाली और सुखके देने वाली हो। और पहली खाई हुई वस्तुको जो पीड़ा कर रही है उसको भी पचाकर और पलटकर सुखदाई बनादेनेवाली हो। वा कोई सुखदाई वस्तु हमने खाई उसके पीछे ऐसी वस्तु भी खाई जा सक्ती है जो पहले खाई हुई वस्तुको भी दुखदाई बना दे और आप भी दुखदाई हो । इसी प्रकार यह भी देखनेमे आता है कि जिसको बलगम (कफ) की बीमारी अधिक होजाती है वह जो कुछ खाता है उसका बलगम ही बनता रहता है। यही दशा कर्मोंकी है कि नवीन कर्मके प्रभावसे पहले बंधे हुए कर्मोंमे अलट पलट हो जाती है और पहले कर्मोंके प्रभावसे

नवीन कर्मों पर भी असर पड़ता है।

इस कथनको समझानेके वास्ते हम कर्म-बन्धनके दस रूप वर्णन करते हैं-बंध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीर्णा, उपशांत, निद्धत, निकांचना, और सत्त्व। अब इनका पृथक २ स्वरूप दिखाते हैं.—

बंध—साधारण कर्मरूप पुद्गल-परमाणुओंका जीवके साथ मिलजाना।

उत्कर्षण—किसी कर्मका जो स्थिति और अनुभाग पहले बंधा था नवीन कर्मके मिलनेसे उस स्थिति और अनुभागमे अधिकता होजाना।

अपकर्षण—जो स्थिति और अनुभाग पहले बंधा था उसमे कमी होजाना।

सक्रमण—एक प्रकृतिके कुछ परिमाणुओंका दूसरी प्रकृतिरूप होजाना। जैसे असाता-वेदनी कर्मका साता वेदनीरूप होजाना। परंतु आठ कर्मोंमेसे एक प्रकारका कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सक्ता है। प्रत्येक कर्मके जो अनेक भेद है उन एक एक कर्मके भेदोंमे ही आपुसमे संक्रमण होता है। जैसे ज्ञानावरणी कर्मके पांच भेद हैं, उन पांचों भेदोंमे संक्रमण अर्थात् अलटन पलटन हो जावेगा। जैसे मतिज्ञानावरणी कर्मके कुछ परमाणु अवधिज्ञानावरणीरूप होजावे, परन्तु दर्शनावरणी, मोहनी वा अन्य किसी कर्मरूप नहीं हो सकते हैं। यहां तक कि मोहनी कर्मके जो भेद दर्शनमोहनी और चारित्रमोहनी हैं, इनका भी आपुसमें संक्रमण नहीं होता है। चारित्रमोहनीके जो २५ भेद है उन्हीका आपुसमे संक्रमण हो सक्ता है। वह पलटकर दर्शनमोहनी रूप नहीं बन सक्ता। परन्तु आयु कर्मका अपने भेदों अर्थात् चारो उत्तर-प्रकृतियोमें भी संक्रमण नहीं है।

उदय—कर्मबंधके पश्चात् जब तक कि वह कर्म फल नहीं दे

सत्ता है उसको आबाधाकाल कहते हैं। आवाधाकालके पश्चात् कर्मकी स्थिति तक जितने समय होते हैं उतने ही विभाग कर्म-परमाणुओंके होकर एक भागको निषेक कहते हैं। एक एक निषेक एक एक समयमे उदय आता रहता है अर्थात् फल देकर नष्ट होता रहता है।

उदीर्णा—जो निषेक अभी तक उदयमे आने योग्य नहीं हुआ है उसको पहले ही उदयमे ले आना अर्थात् उदय आने वाले निषेकमे मिला देना। भावार्थ कर्मको जल्दी उदय लाकर खिरा देना।

उपशांत—वह निषेक जो अभी उदयमे आने वाले नहीं हुए हैं, परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

निद्धत—वह निषेक जो अभी उदयमे आने वाले या संक्रमण होने वाले नहीं हैं, परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है

निकांचित—वह निषेक जो अभी उदयमे आने वाले या संक्रमण होने वाले या उत्कर्षण या अपकर्षण होने वाले नहीं हैं, परंतु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

सत्त्व—कर्मोंका विद्यमान रहना।

इसके अतिरिक्त कर्मकी एक प्रकृति बिलकुल दूसरी प्रकृतिमें भी बदल सक्ती है। उसको विसंयोजन कहते हैं। परन्तु यह पलटना मूल प्रकृतियोमे नही हो सक्ता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंमेसे कोई कर्म बदल कर दूसरा कर्म नही हो सक्ता है; वरन एक एक कर्मके जो कई कई भेद है उनमेसे एक भेद पलट कर बिल्कुल दूसरे भेद रूप हो सक्ता है।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो॥ ३४॥

अर्थ—आत्माका जो परिणाम कर्मके आस्रवको रोकनेमें कारण है उसको निश्चयसे भाव-संवर कहते हैं, और जो द्रव्य-

आस्रवको रोकनेमें कारण है वह द्रव्य-संवर है।

भावार्थ—कर्मोंको पैदा न होने देना अर्थात् रोकना संवर कहाता है। जिन परिणामोसे कर्मका पैदा होना वद होता है वे आत्माके परिणाम भाव-संवर कहाते हैं। और उसीके रुकनेसे पुद्गल-परमाणु कर्मरूप नहीं होते हैं उसको द्रव्य-संवर कहते हैं।

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं वहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥ ३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और भी अनेक प्रकारका चारित्र, ये भावसंवरके भेद जानने चाहिये।

भावार्थ—अपनी शुद्ध आत्माके ही भावमे मग्न रहना—राग-द्वेपादि विकल्पोसे रहित होना ही कर्मोंके न पैदा होने देनेको कारण है। ऐसी शुद्ध अवस्था होनेके कारण व्रत, समिति आदि हैं। अव इन कारणोंकी पृथक पृथक व्याख्या की जाती है।

व्रत—निश्चयसे रागद्वेपादि विकल्पोंसे रहित होनेका नाम व्रत है। इस अवस्थाको प्राप्त करने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म और अपरिग्रह—ये पांच व्यवहाररूप कारण हैं। ये ही पांच व्रत कहाते हैं। कपायसे अपने वा पर जीवके भाव-प्राण वा द्रव्य-प्राणको पीडा न देना अहिंसा-व्रत है। कषायसे अपनेको वा परको हानिकारक, अप्रशस्त वचन न बोलना सत्य-व्रत है। कपायसे विना दिये हुए पदार्थको ग्रहण न करना अचौर्य-व्रत है। पुरुष वा स्त्रीसे मैथुनका न करना ब्रह्म-व्रत है। अपनी निज आत्मासे भिन्न पर पदार्थोंमे ममत्वका न होना अपरिग्रह है।

समिति—अपने शरीरसे अन्य जीवोंको पीड़ा न होनेकी इच्छासे यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करना समिति है। कर्मोंके पैदा होनेको रोकनेकी पूरी पूरी कोशिश त्यागी मुनि ही कर सकते है। उनका

सावधानीसे क्रिया करना भी कर्मोंके पैदा होनेको रोकनेमे सहकारी कारण है। इसीको समिति कहते हैं। वह सावधानी पाँच प्रकार है-ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग। दिनमे ही चलना-रात्रिको न चलना, ऐसे रास्ते पर चलना जिस पर मनुष्य और पशु आदि चलते रहे हो, आहिस्ता २ आगेको देखते हुए चलना, चलते समय इधर उधर न देखना अर्थात् ऐसी सावधानीसे चलना जिससे किसी जीवकी हिसा न हो-इसका नाम ईर्या-समिति है। हितकारी प्रमाणीक संदेह-रहित प्रिय वचन कहना भाषा-समिति है। दिनमे एक वार निर्दोष आहार लेना एषणा-समिति है। शास्त्र, पीछी और कमंडल आदि जो कुछ मुनिके पास होता है उसको नेत्रोसे देखकर और पीछीसे शोधकर इस प्रकार धरना उठाना कि किसी जीवको वाधा न हो आदान-निक्षेपण-समिति है। मल मूत्र इस प्रकार सावधानीसे डालना जिसमे जीवको वाधा न हो उत्सर्ग-समिति है।

गुप्ति-मन, वचन और कायके व्यापारको वश करना-काबूमे लाना और रोकना गुप्ति है।

धर्म-उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य-ये दस प्रकारका धर्म कहाता है। क्रोध-कषायके कारण परिणामोमे कलुषता न होने देना क्षमा है। मान अर्थात् मद न करना मार्दव है। माया अर्थात् छल-कपटका न करना आर्जव है। यथार्थ वचन कहना सत्य है। लोभ-गृद्धिता अर्थात् लालचको दूर कर अंतःकरणको पवित्र रखना शौच है। इन्द्रिय-निरोध और जीवोकी रक्षा करना संयम है। कर्म क्षय करनेके अर्थ इच्छाके निरोध करनेको तप कहते हैं। इस हेतु जिन कारणोसे इच्छाका निरोध होता है वह ही तप है।

वह तप दो प्रकारका है-बाह्य और अंतरंग। बाह्य तप छह

प्रकार है-अनशन, ऊनोदर, विविक्तशय्यासन, रसपरित्याग, कायक्लेश और वृत्तिपरिसंख्या । आहार-त्यागका नाम अनशन है। भूखसे कमती आहार करना अवमौदर्य्य वा ऊनोदर है। विषयी जीवोंके सञ्चार रहित निरुपद्रव स्थानमे सोना बैठना विविक्तशय्यासन है । दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, लवण-इन छह प्रकारके रसोंका त्याग करना रसपरित्याग है । शरीरको परीषह देकर पीडाका सहन करना कायक्लेश है। और अमुक प्रकारसे अमुक आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा, अन्यथा भोजन नहीं करूंगा, इस प्रकार प्रवृत्तिकी मर्य्यादा करना वृत्तिपरिसंख्या है।

अतरग तप भी छह प्रकार हैं-विनय, वैय्यावृत्य, प्रायश्चित्त, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान। आदर-भावको विनय कहते हैं। विनय दो प्रकार है-मुख्यविनय और उपचारविनय । सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपने कल्याणका हेतु समझ कर धारण करना मुख्यविनय है। और इनके धारण करने वाले श्रीवीतराग भगवान और श्रीआचार्य आदिको नमस्कार आदि करना और इनकी भक्तिके वश परोक्षरूपमे भी उनके तीर्थक्षेत्र आदिकी वन्दना करना उपचारविनय है। धर्मात्माओंकी सेवा-चाकरी करना वैय्यावृत्य है । प्रमादसे यदि कोई दोष हो जावे तो दड ग्रहण करके दोष निवारण करना प्रायश्चित्त है। धनधान्यादि वाह्य और क्रोध, मान, माया आदि अंतरंग परिग्रहोंमें अहंकार ममकारका त्याग करना व्युत्सर्ग है । सत्य शास्त्रोंका पढना, अभ्यास करना, पढ़ाना, उपदेश देना, सुनना और सुनाना स्वाध्याय है। समस्त चिन्ताओंको त्याग कर एक ओर लगना ध्यान है । ध्यानका विस्ताररूप वर्णन आगामी किया जावेगा।

दया भाव करके पर जीवोंको ज्ञान और आहार आदि देना त्याग है । परिग्रहका अभाव और शरीर आदिमें ममत्वका न

होना आकिंचन्य है। अपनी शुद्ध आत्मामें तल्लीन रहना और पुरुष वा स्त्री-भोगका त्याग करना ब्रह्मचर्य्य है।

बारह भावना।

अनुप्रेक्षा-वार वार विचार करनेको अनुप्रेक्षा वा भावना कहते हैं। कल्याणकारी भावना बारह प्रकारकी हैं, जिनसे संवर होता है-अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म।

१ अध्रुव-इसको अनित्यभावना भी कहते हैं। धन, धान्य, महल, मकान, स्त्री, पुत्र, शरीर, पदवी, अधिकार आदि जगतकी सर्व वस्तु विनाशीक हैं; सदा स्थिर रहने वाली कोई वस्तु नहीं है। अपने स्वभावानुसार सर्व वस्तुएँ अपनी पर्य्यायें पलटती हैं और कुछसे कुछ हो जाती हैं। ऐसा विचार करना अध्रुव-भावना है।

२ अशरण-जगतमें कोई शरण नहीं है, कर्मोंके फलसे कोई बचाने वाला नही है। राजा, महाराजा, भाई, मंत्र, औषधि आदि कोई भी वस्तु बचाने वाली नहीं है, जिसकी शरण ली जावे।

संसार-संसारका अर्थ संसरण अर्थात् चक्रकी तरह घूमना है। यह जीव ८४ लाख योनिमें घूमता फिरता है, कभी कोई पर्य्याय धारण करता है और कभी कोई। इस प्रकार तेलीके बैलकी तरह यह जीव घूमता ही रहता है। नही मालूम इसने एक २ पर्य्याय कितनी २ वार धारण की हो, और यदि मुक्ति न हुई तो कितनी २ वार और धारण करेगा। यह संसारभावना है।

४ एकत्व-स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु, महल, मकान, धन, धान्य, आदि जगतकी सब वस्तुएँ यहांतक कि जीवका शरीर भी पर पदार्थ है। कोई भी वस्तु सदा साथ रहने वाली नहीं है। जिस प्रकार रस्ता चलते एक मुसाफिरको दूसरे मुसाफिरका साथ हो जाता है उसी प्रकार जगतकी वस्तुओका साथ है। और जिस

प्रकार रास्तेमे मिले हुए मुसाफिर बिछुड़ कर अपने अपने स्थानको चले जाते हैं उसी प्रकार जगतकी सर्व वस्तुएँ बिछुड कर अपने २ स्वभावानुसार अपने २ रास्ते लगती है। यह जीव वास्तवमे अकेला ही है। मरण समय सर्व वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं, कोई भी साथ नहीं जाती। जीवके कर्म जो साथ जाते हैं वे भी अपना फल देकर अलग होते रहते हैं। जीवकी साथी तो कोई भी वस्तु नहीं है। जीव तो अकेला ही है। यह एकत्व-भावना है।

५ अन्यत्व— जीव चैतन्य है, इस हेतु सर्व अचेतन पदार्थ तो इससे पराये है ही, परन्तु जीव जीव भी एक-दूसरेसे भिन्न ही हैं, आपुसमे एक नहीं हैं, और अपनी २ परिणतिके अनुसार ही प्रवर्तते हैं। इस हेतु किसी जीवको भी अपना नही मानना चाहिये। यह अन्यत्व-भावना है।

६ अशुचित्व—यह शरीर अत्यन्त अशुचि और घिणावना है; मास, रुधिर, हाड, चाम, आदि अपवित्र वस्तुओका ही बना हुआ है। इस हेतु शरीर प्यार करनेके योग्य नहीं है। यह अशुचित्व-भावना है।

७ आस्रव—अर्थात् कर्मोंके पैदा होनेसे ही यह जीव संसारमें रुलता है। इस हेतु जिन २ कारणोसे आस्रव होता है उन सबका विचार करके उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये। यह विचार आस्रव-भावना है।

८ संवर—अर्थात् कर्मोंके पैदा होनेको रोकनेसे ही यह जीव ससार-समुद्रसे तिर सकता है। इस हेतु संवरके कारणोको विचार करके उन्हे ग्रहण करना चाहिये। यह विचार संवर-भावना है।

९ निर्जरा—कर्मोंका कुछ दूर होना निर्जरा है। निर्जराके कारणोंको जानकर बंधे हुए कर्मोंको जिस तिस प्रकार दूर करना चाहिये। ऐसा निर्जरा सम्बंधी विचार करना निर्जरा-भावना है।

१० लोक—लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक, और

ऊर्ध्वलोक। ये ही तीनलोक कहाते हैं।

अधोलोकमे नरक है। नरककी सात पृथिवी हैं-रत्नप्रभा, उसके नीचे शर्कराप्रभा, उसके नीचे बालुकाप्रभा, उसके नीचे पंकप्रभा, उसके नीचे धूमप्रभा, उसके नीचे तमःप्रभा, और सबसे नीचे महातमःप्रभा है। नरकके नीचेके स्थानमे निगोद आदि पंच स्थावर जीव भरे हुए है। रत्नप्रभाके तीन भाग हैं-खर, पंक और अब्बहुल। खर भागमे सात प्रकारके व्यन्तर रहते हैं। पंक भागमें असुर और राक्षस रहते हैं। और अब्बहुल भागसे नरक प्रारम्भ होता है। इस भागमे नारकी रहते हैं।

मध्यलोकमे मनुष्यो और तिर्यचोके रहनेकी पृथिवी, और सूर्य्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि हैं।

ऊर्ध्वलोकमे एक युगल (जोड़ा) के ऊपर दूसरा, इस प्रकार १६ स्वर्ग हैं-सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इन १६ स्वर्गोंके ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं। इनके भी ऊपर अनुदिश पटल है। इसके भी ऊपर पांच अनुत्तर पटल हैं। इनमे भी देव रहते हैं। इनके ऊपर मोक्षशिला है। इस प्रकार तीन लोकके स्वरूपका चिंतवन करना कि लोक कितना बड़ा है? उसमें कौन कौन स्थान हैं? किस २ स्थानमें क्या २ रचना है? और वहां क्या होता है? यह लोक-भावना है।

इस लोकभावनासे संसार-परिभ्रमणकी दशा मालूम होती है; और उससे छूटने तथा मोक्ष-प्राप्तिकी अभिलाषा होती है।

११ बोधदुर्लभ-एकेंद्रियादि बहुतसे जीवोको तो नाममात्र ही ज्ञान होता है। पंचेंद्रिय पशु आदि बहुतसे जीव भी कुछ आत्म-शुद्धि नही कर सक्ते हैं। देव और नारकी भी चारित्र नहीं पाल सक्ते और मुक्ति नही पा सक्ते हैं। सिर्फ एक मनुष्य देहसे मुक्ति होती है और सम्यग्दर्शनादि पल सकते हैं। और यह

मनुष्य-देह बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त होती है। इसको पाकर धर्मका उपदेश और धर्म पालनेका समागम मिलना भी दुर्लभ है। ऐसी दशामे अपने कल्याणका अवसर यदि किसी प्रकार मिल गया है तो उसको अहोभाग्य जान कर अपनी आत्माके कल्याणमे लग जाना चाहिये। अवसर मिलने पर भी प्रमाद करना और आत्म-साधन न करना अति मूर्खता है। इस प्रकार रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ होनेके विचारको बोधदुर्लभ-भावना कहते हैं।

१२ धर्म—धर्मके स्वरूपका चिंतवन करना। धर्म ही ससारसे तिराने वाला है। यह ही शिवपुरमे पहुंचानेको रेलगाड़ी है। सांसारिक सुख भी इसीसे मिलते हैं। दुःखोंसे निर्वृत्ति भी धर्मसे ही होती है। ऐसा विचार करना धर्म-भावना है।

परीषहजय—मुनिमहाराज २२ प्रकारकी परिषह अर्थात् पीड़ाको राग द्वेष और कलुषता-रहित सहन करते है। इसको परीषहजय कहते हैं। यह भी संवरका कारण है। वे २२ परीषह इस प्रकार हैं—भूख[१], प्यास[२], जाड़ा[३], गर्मी[४], नग्न रहना[५], याचना[६] अर्थात् किसीसे कुछ न मागना, अरति[७] अर्थात् सयममे अनुरागका अभाव न होने देना, अलाभ[८] अर्थात् भोजनके अर्थ जानेमे भोजन न मिलना, दंशमशक[९] अर्थात् वनमें नग्न रहने पर डांस, मच्छर, मक्खी, कानखजूरा और सर्पादिसे पीड़ा पहुंचना, आक्रोश[१०] अर्थात् दुर्जन मनुष्योके दुर्वचन सहना, रोग[११] अर्थात् शरीरमें बीमारीका होना, मल[१२] अर्थात् शरीर पर मैल लग जाना और उसको दूर न करना, तृण-स्पर्श[१३] अर्थात् कांटा, ककर, फांस आदिका चुभना, अज्ञान[१४] अर्थात् किसी वस्तुका ज्ञान न होनेका खेद न करना, अदर्शन[१५] अर्थात् वहुत काल तपश्चरण करने पर भी कुछ फल-प्राप्ति न होनेसे सम्यग्दर्शनको दूषित न करना, प्रज्ञा[१६] अर्थात् ज्ञानकी वृद्धि होने पर मान न करना, सत्कार-पुरस्कार[१७] अर्थात् आदर-सत्कार न चाहना और सत्कार पाने पर हर्षित न होना वा तिरस्कार पाने

पर दुःखित न होना, शय्या अर्थात् खुरदरी पथरीली भूमिपर शयन करनेमे दुःख न मानना, वध-बंधन अर्थात् दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध-बंधनादि दुःख पाने पर समता रखना, निपद्या अर्थात् निर्जन वनमे जहां सिंह आदि दुष्ट जीव रहते हैं वहां निवास करनेका दुःख न मानना, स्त्री अर्थात् महान सुन्दर स्त्रीको देख कर भी चित्तमे विकार उत्पन्न न होने देना, और चर्या अर्थात् मार्गमे चलते हुए खेद-खिन्न न होना ।

चारित्र—अपने आत्मस्वरूपमे स्थित होना चारित्र है। उसके पांच भेद है—१ सव जीवोमे समता-भाव रखना, संपूर्ण शुभ अशुभ संकल्प विकल्पोंका त्यागरूप समाधि धारण करना तथा रागद्वेषका त्याग करना और सुख-दुःखमे मध्यस्थ रहना, यह सामायिक-चारित्र है। २ सामायिकमे स्थित रहनेको असमर्थ होने पर अर्थात् डिगजाने पर फिर अपनेको अपनी शुद्ध आत्माके अनुभवमे लगाना वा व्रत आदिमे भंग पड़ने पर प्रायश्चित्त आदिसे फिर सावधान होना छेदोपस्थापन-चारित्र है। ३ रागद्वेषादि विकल्पको त्यागकर अधिकताके साथ आत्मशुद्धि करना परिहारविशुद्धि-चारित्र है। ४ अपनी आत्माको कषायसे रहित करते करते सूक्ष्म लोभ कषाय नाममात्रको रह जावे उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसके भी दूर करनेकी कोशिश करना सूक्ष्मसांपराय-चारित्र है। और ५ कपाय-रहित जैसा निष्कंप आत्माका शुद्ध स्वभाव है वैसा होकर उसमे मग्न होना यथाख्यात-चारित्र है। चारित्रके अनेक भेदोका वर्णन आगामी विस्तारसे किया जावेगा ।

इस प्रकार संवरके अनेक कारण वर्णन किये गये।

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडादि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

अर्थ—आत्माके जिस भावसे कर्म्म-रूपी पुद्गल फल देकर

नष्ट होते हैं वह भाव-निर्जरा है। और समय पाकर वा तपसे कर्म-रूप पुद्गलोंका नष्ट होना द्रव्य-निर्जरा है।

भावार्थ—एक अंश कर्मके नष्ट होनेका नाम निर्जरा है। जब किसी कर्मका फल हो चुकता है तो वह कर्म दूर हो जाता है। इस प्रकार फल देकर अपने समय पर कर्मका दूर होना सविपाक-निर्जरा है। और तप करके समयसे पहले ही किसी कर्मको नष्ट कर देना अविपाक-निर्जरा है।

तपसे संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुधभावो॥३७॥

अर्थ—सब कर्मोंके नाशका कारण जो आत्माका शुद्ध परिणाम है वह भाव-मोक्ष है। और आत्मासे सर्वथा कर्मोंका जो दूर होना है वह द्रव्य-मोक्ष है।

भावार्थ—सर्व कर्म नष्ट होकर जीवात्माके शुद्ध हो जानेका नाम मोक्ष है। एक बार कर्मोंसे रहित होकर और निज शुद्ध परमानन्द स्वरूपको पाकर फिर यह जीव कभी भी कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता है। क्योंकि योग और कषाय आदि कोई भी कारण कर्मोंके आस्रवका शेष नहीं रहता है। जीवका कर्म-बंध अनादि सान्त है। अर्थात् अनादिसे तो यह जीव कर्मोंके बन्धनमें पड़ा हुआ है। परन्तु यह बंधन दूर हो कर इसको मुक्ति हो जाती है अर्थात् कर्म-बन्धनका अन्त हो जाता है। मुक्ति सादि अनन्त है। अर्थात् मुक्तिकी आदि है, परंतु अंत नहीं है—सदा ही रहती है। यद्यपि जीव अनादिसे बंधनमें पड़ा हुआ है तथापि किसी समय मुक्ति पा सक्ता है। क्योंकि बन्धनमें पड़ना शुद्ध-निश्चय-नयसे जीवका निज स्वभाव नहीं है। जीवका निज स्वभाव तो शुद्ध और मुक्त ही है। इस हेतु जीवको नित्य-मुक्त भी कहते हैं।

जीव निराकार है और कर्म-पुद्गल मूर्तीक है। इस हेतु इनका सम्बन्ध होना कठिन है। परन्तु अनादि कालसे ऐसा सिलसिला चला आता है कि कर्मोंके साथ नवीन कर्म मिलते रहते है। और इस प्रकार कर्मोंसे कर्मोंका सम्बन्ध होता रहता है। और उन्हीं-मेसे कर्म नष्ट भी होते रहते हैं अर्थात् निर्जरा भी होती रहती है। जब एक बार सब कर्म दूर हो जाते हैं तब फिर किसी कारणसे भी जीवके साथ कर्म-बध नहीं हो सकता है।

कोई २ वस्तु अनन्त भी होती हैं अर्थात् जिनकी न कुछ गिनती हो सके और न कुछ सीमा ही हो, जिनमेसे कितनी ही वस्तु निकलती रहे तो भी अनन्त ही बाकी रहे। आकाशके प्रदेश अनंत है, उनका कोई अंत नहीं है, क्योकि तीनलोकके बाहर भी आकाश है और बाहरके आकाशकी कोई सीमा नहीं है। आकाशकी जो कुछ सीमा बांधी जावे उस सीमाके बाहर भी आकाश अवश्य है। आकाशका कोई अंत नही है। इसी प्रकार जीवोकी गिनती भी अनंत है। इनका भी कोई अंत नहीं है। इस हेतु चाहे जितने जीव मोक्षमे जाते रहे तौभी संसारमे अनंत ही जीव बाकी रहते है। संसारमें कभी जीव खतम नहीं हो सकते हैं। जीव तीनलोकके भीतर ही हैं, तीनलोकसे बाहर नहीं हैं। तीनलोककी हद है। वह बेहद नहीं है। परंतु जीवमे अवगाहन-शक्ति है अर्थात् जिस स्थानमे एक जीव हो उसही स्थानमे अनेक जीव समा सकते है। इस हेतु तीनलोकमे अनंत जीव समाये हुए हैं। पुद्गलमे भी अवगाहनशक्ति है अर्थात् एक पुद्गल दूसरे पुद्गलमे समा सकता है। जैसे लोहेमे अग्नि समा जाती है। जिस स्थानमें एक दीपकका प्रकाश है उसी स्थानमे अनेक दीपकोका प्रकाश समा सकता है। इसी हेतु पुद्गलके परमाणु भी अनत हैं। अनंत जीवोकी अनंत देह हैं। अनंत जीव और उनकी अनंत देह अवगाहन-शक्तिसे तीनलोकमे ही समाई हुई हैं।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

अर्थ–शुभ और अशुभ परिणामोंमें युक्त जीव पुण्य और पाप-रूप होते हैं। साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम, और उच्च गोत्र–इस प्रकार जो कर्मोंकी प्रकृतियें हैं वे तो पुण्य प्रकृति हैं, और बाकी सब पाप प्रकृतियें हैं।

भावार्थ-शुभ परिणामोसे पुण्य होता है और अशुभ परिणामोंसे पाप होता है। कर्मोंके दो भेद हैं–एक घातिया जो जीवके गुणोंका घात करते हैं, और दूसरे अघातिया जो गुणोका घात नहीं करते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी, और अंतराय, ये चारो कर्म घातिया हैं। इस हेतु ये तो पाप कर्म ही हैं। बाकी चार कर्मोंमेसे वेदनी-कर्ममे सातावेदनी पुण्य कर्म है, और असातावेदनी पाप कर्म है। आयु-कर्ममेसे देव-आयु, मनुष्य–आयु, तिर्यंच-आयु, ये तीन पुण्य कर्म हैं, और नरक-आयु पाप कर्म है। नाम-कर्मकी ९३ प्रकृतियोंमेंसे ५३ प्रकृति पुण्यरूप हैं।

शुभराग, अनुकम्पा, और चित्त-प्रासाद, इन कारणोंसे पुण्य कर्म पैदा होता है। धर्म और धर्मात्माओसे राग करना शुभ राग है। दयाभाव करके किसी जीवके दुःख दूर करनेकी कोशिश करना अनुकम्पा है। कषायोकी मंदतासे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न न होना–शांतिका होना अर्थात् प्रसन्न रहना चित्त-प्रासाद है।

इसके विरुद्ध अन्य प्रकारकी क्रियाओसे पाप कर्म पैदा होता है।

ज्ञानावरणी आदि प्रत्येक कर्मके उत्पन्न होनेके कारण साधारण-रूपसे इस प्रकार हैं:—

१ प्रदोष अर्थात् ज्ञानी पुरुष; ज्ञानका व्याख्यान करता हो उसपर ईर्षा करके उसकी प्रशंसा न करना–चुप हो जाना। २ निह्नव अर्थात् किसी बातका ज्ञान रखते हुए भी किसीके पूछने

पर न बताना, इनकार कर देना कि मैं नही जानता। ३ मात्सर्य अर्थात् इस विचारसे कि जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो मेरी बराबरी करेगा किसीको ज्ञानका न बताना। ४ अन्तराय अर्थात् कोई ज्ञानका अभ्यास करता हो उसमे विघ्न कर देना, पुस्तक, पाठक, पाठशाला आदिकी प्राप्तिमें विघ्न डालना, जिस कार्यसे ज्ञानका प्रचार होता हो उस कार्यको विगाड़ना, विरोध करना। ५ आसादन अर्थात् कोई पुरुष ज्ञानका उपदेश करे वा प्रकाश करे उसको किसी बहानेसे रोक देना। ६ उपघात अर्थात् सत्य ज्ञानमे दूषण लगाना, द्वेष करना। ये सब कार्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मके पैदा होनेके कारण हैं।

१ दुःख—अपने वा पराये परिणाम पीड़ा-रूप करना अर्थात् दुःख पैदा करना। २ शोक—शोक करना वा दूसरेको शोक उपजाना। ३ ताप—सोच करना, पश्चात्ताप करना वा दूसरेको कराना। ४ आक्रंदन—विलाप करना, आंसू वहाना वा दूसरेको रुलाना। ५ बध—अपनेको वा परको मारना, शरीरको पीड़ा पहुंचाना वा किसी अंगका छेदन करना। ६ परिवेदन—इतने जोरसे विलाप करना वा कराना कि जिससे सुनने वालेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जावे। ये सब असातावेदनी कर्मके पैदा होनेके कारण हैं।

व्रती, धर्मात्मा, वा सर्व प्रकारके जीव अर्थात् प्राणीमात्रके दुःख दूर करने रूप परिणामोंका होना, जिसको भूतव्रत्यनुकम्पा कहते हैं, परके तथा अपने उपकारार्थ दान देना, सराग-संयम अर्थात् राग-सहित संयम करना, भावार्थ धर्म और धर्मात्मासे प्रीति और दुष्ट कर्मोंके नष्ट करनेमे राग होना, चित्तमे शांति रखना—क्रोधादि कलुषता पैदा न करना, लोभका कम करना, इन सब कार्योंसे सातावेदनी कर्मकी उत्पत्ति होती है।

केवलज्ञानी, शास्त्र, मुनि, सच्चे धर्म और देवोंको दूषण लगाना,

दर्शनमोहनीयकर्म अर्थात् मिथ्या श्रद्धानको पैदा करनेवाले हैं।

तीव्र कषाय-रूप परिणामोसे चारित्रमोहनीय-कर्मकी उत्पत्ति होती है अर्थात् कषाय करनेसे अगामीको चारित्रमोहिनी-कर्मका आस्रव होता है। कषाय करनेसे ही कषायरूप कर्म पैदा होता है, जिससे आगामीको भी कषाय उत्पन्न होती है।

बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकआयु-कर्मके आस्रवका कारण है। माया अर्थात् छल-कपट करना, कुटिल परिणाम रखना तिर्यंचआयु-कर्म पैदा होनेका कारण है। थोड़ा आरम्भ करना, थोडा परिग्रह रखना, और स्वभावसे ही कोमल परिणामका होना, मनुष्यआयुकर्मके पैदा होनेके कारण हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम-निर्जरा, बाल-तप, और सम्यक् श्रद्धान, ये सब देवआयु-कर्मके पैदा होनेके कारण हैं। धर्म और धर्मात्मामें प्रीति तथा भक्तिको सरागसंयम कहते हैं। अणुव्रत अर्थात् श्रावकके व्रत धारण करनेको सयमासयम कहते हैं। किसी पराधीन कारणसे अर्थात् लाचारीसे बे-वश होकर यदि भूख प्यास आदिकी पीडा सहनी पड़े या मारने ताड़ने आदिके त्रास भोगने पडे वा अन्य प्रकार कोई कष्ट उठाना पडे तो उस दुःखको मंद कषाय-रूप होकर सहन करना, इसको अकाम-निर्जरा कहते हैं। आत्मज्ञान-रहित अर्थात् मिथ्यात्व अवस्थामें तप करनेको बाल-तप कहते हैं।

मन, वचन और कायकी वक्रता अर्थात् कुटिलतासे शरीरका हिलना, चलना और अन्यथा (उल्टा) रूप प्रवर्तना, इससे अशुभ-नाम-कर्म पैदा होते हैं।

मन, वचन और कायका सरल और सीधा होना—यथार्थ-रूप प्रवर्तना शुभ-नाम-कर्म पैदा करता है।

परकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना, परके विद्यमान

गुणोको छिपाना और अपने अविद्यमान गुणोको प्रकट करना, नीच गोत्र-कर्मके आस्रवका कारण है ।

अपनी निंदा, परकी प्रशंसा, अपने गुणोको छिपाना, परके गुणोको प्रकाश करना, नीचा रहना अर्थात् दूसरोंका विनय करना, अनुत्सुक अर्थात् अपने गुणोका घमंड नहीं करना, ये उच्च गोत्र-कर्म पैदा होनेके कारण है ।

परके दान, भोगादि कर्मोंमें विघ्न करना अन्तराय-कर्मके आस्रवका कारण है ।

नाम-कर्मकी प्रकृतियोंमें एक तीर्थकर प्रकृति है, जो १६ प्रकारकी भावनाओसे पैदा होती है । वे भावनाएँ इस प्रकार हैं—१ दर्शनविशुद्धि अर्थात् निर्मल सम्यक् श्रद्धान, २ विनयसंपन्नता अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रकी विनय, ३ शीलव्रतेष्वनतीचार अर्थात् व्रतमे निरतिचार प्रवृत्ति, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग अर्थात् निरतर तत्त्वाभ्यास रखना, ५ संवेग अर्थात् संसारके दु:खोसे भयभीत रहना, ६ शक्तित त्याग अर्थात् शक्तिको नही छिपाकर दान करना, ७ शक्तित तप अर्थात् अपनी सामर्थ्य भर तप करना, ८ साधुसमाधिः अर्थात् मुनियोके विघ्न और कष्टोको दूर करके उनके संयमकी रक्षा करना, ९ वैयावृत्यकरण अर्थात् रोगी साधुकी सेवा, १० अर्हद्भक्ति अर्थात् श्रीअर्हतकी भक्ति, ११ आचार्यभक्ति अर्थात् श्रीआचार्यकी भक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति अर्थात् शास्त्रके अधिक जाननेवाले श्रीउपाध्यायकी भक्ति, १३ प्रवचनभक्ति अर्थात् शास्त्रके गुणोमे अनुराग, १४ आवश्यकापरिहाणिः अर्थात् सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, इन छह आवश्यकीय क्रियाओमे हानि न करना, १५ मार्गप्रभावना अर्थात् जैनधर्मका प्रभाव बढ़ाना, १६ प्रवचनवात्सलत्व अर्थात् साधर्मी जनोके साथ गऊ बच्चेकी समान प्रीतिका होना ।

इति द्वितीयोऽधिकारः ।

तृतीय अधिकार ।

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनोंके समुदायको व्यवहारसे मोक्षका कारण जानो। निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-स्वरूप जो निज आत्मा है वह ही मोक्षका कारण है।

भावार्थ—सच्चा श्रद्धान, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण, ये तीनों इकट्ठे होनेसे मोक्षकी सिद्धि होती है। वास्तवमे ये तीनो गुण आत्माके हैं। इसलिये निश्चयसे आत्माको ही मोक्षका कारण जानो। ये तीनो कारण तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहाते हैं।

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणमुयत्तु अण्णदवियह्मि ।
तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥४०॥

अर्थ—जीवात्माके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इस कारण रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वह ही निश्चय-नयसे मोक्षका कारण है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, और चारित्र, ये आत्मामें ही होते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन पांच द्रव्योंमेसे किसी द्रव्यमें भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। क्योंकि ये पांचो द्रव्य अजीव हैं, अचेतन हैं, जड हैं। इस हेतु जीवात्मा ही वास्तवमें मोक्षका कारण है। वह ही रत्नत्रयका धारक है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि॥४१॥

अर्थ—जीव आदि पदार्थोंका जो सच्चा श्रद्धान करना है

वह सम्यत्त्व है। और वह सम्यत्त्व आत्माका स्वरूप है । इस सम्यक्त्वके होने पर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रहित ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

भावार्थ—जानना अर्थात् ज्ञान, और निश्चय करना—रुचि करना—यकीन करना अर्थात् श्रद्धान, ये दो पृथक २ बाते हैं । ज्ञान और बात है, और श्रद्धान और । फारसी वाले ज्ञानको इल्म और श्रद्धानको यकीन कहते हैं । अङ्गरेजीमे ज्ञानको नॉलेज (knowledge) और श्रद्धानको बिलीफ (belief) कहते हैं ।

धर्म-कथन अर्थात् मोक्ष-मार्गमे अपनी आत्माको शुद्ध निरञ्जन मानना और निज आत्मासे भिन्न शरीर आदि सब पदार्थोंको भिन्न समझना और सांसारिक अवस्थाको कर्मोंके वश कैदखाना समझ कर इससे छुटकारा पाना आवश्यक समझना, इन सब बातोकी श्रद्धा मनमे होना सच्चा श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन है ।

वस्तुको ज्योका त्यों जानना सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञानमें तीन प्रकारके दोष नहीं होते हैं वह ही सच्चा ज्ञान होता है। १ संशय अर्थात दुविधारूप ज्ञान, कि यह है वा वह है, इस प्रकार है वा उस प्रकार है। जैसे आकाशमें चमकती हुई वस्तुको देखकर संशय करना कि यह तारा है वा कागजका बुर्ज है, जिसमें अग्नि जलती होती है और अग्निके जोरसे आकाशमे चढ़ जाता है। २ विपरीत अर्थात उल्टी बात जानना। जैसे कोई औषधि रोगके उत्पन्न करने वाली हो उसीको रोगके दूर करने वाली जानना, विषको अमृत वा अमृतको विष जानना । ३ अनध्यवसाय वा विभ्रम अर्थात् यह मालूम ही न होना कि क्या वस्तु है । संशयमे तो किसी वस्तुकी बाबत दो चार ही प्रकारका ख्याल होता है कि यह है वा यह है, परन्तु विभ्रममें कुछ पता ठिकाना ही नहीं होता है। जैसे रस्ते चलते हुए मनुष्यके पैरसे धरतीमें

पड़ी हुई अनेक वस्तु स्पर्श करती हैं। परन्तु केवल इतना ही ज्ञान होता है कि कोई वस्तु पैरोंसे लगती जाती है। उसमें संशय भी प्राप्त नहीं होता है कि अमुक है वा अमुक, और न कुछ विपर्यय ही होता है । इस अनजानपनेको अनध्यवसाय कहते हैं । इस प्रकार ज्ञानमें तीन दोष नहीं होते हैं तो ज्ञान ठीक होता है ।

सम्यग्दर्शनवालेका ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहाता है । विना सम्यक्तके ज्ञान मिथ्या है ।

जिस वस्तुका श्रद्धान होगा उसका ज्ञान अवश्य होगा अर्थात् ज्ञान और श्रद्धान दोनो एक साथ होते हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता है कि किसी वस्तुका श्रद्धान तो हो और ज्ञान न हो। क्योंकि जब उस वस्तुकी जानकारी ही नहीं है तो उसका श्रद्धान ही क्या होगा ? परन्तु ऐसा हो सकता है कि ज्ञान तो हो और श्रद्धान न हो ।

धर्म-मार्गके कथनमे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, इन सात तत्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यद्यपि इन तत्वोंका श्रद्धान शास्त्रके पढ़ने वा उपदेशोंके सुननेसे ही बहुधा हो सकता है। परन्तु यह श्रद्धान विना लिखे पढ़े तुच्छ बुद्धि जीवोंको भी हो सकता है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके वास्ते यह जरूरी नहीं है कि सातों तत्वोंके नाम और उनके भेदोंको जाने । परन्तु इन तत्वोंके अभिप्रायमें प्रतीतिका हो जाना ही सम्यग्दर्शन है। मंद बुद्धि मनुष्य भी यह प्रतीति कर सकता है कि मैं अर्थात् मेरा जीव शरीर आदिसे भिन्न है, ज्ञानशक्तिवाला है, और क्रोध आदि कषाय इसके उपाधिक दुखदाई भाव हैं। इन उपाधिक भावोंको दूर करनेसे ही सच्चा आनंद प्राप्त होता है। यह सम्यग्दर्शन मंद बुद्धि मनुष्योंको तो क्या, वरन पशु पक्षियोंको भी प्राप्त हो सकता है। क्योंकि मोटेरूप उपरोक्त बातोंके आशयकी प्रतीति उनको भी हो सकती है।

सम्यग्दर्शनके न होनेका नाम मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व भी मोह-

का ही अंश है। मोहनी-कर्मके दो भेद हैं–एक दर्शनमोहनी अर्थात् सम्यग्दर्शनको नष्ट करने वाली और दूसरी चारित्रमोहनी अर्थात् मोक्ष-साधन-रूप चारित्रको विगाड़ने वाली। दर्शनमोहनी-कर्मका बंध एक ही रूप होता है, जिसको मिथ्यात्व कहते हैं। परन्तु उदय इसका तीन रूपसे होता है–एक मिथ्यात्वरूप। दूसरे मिथ्यात्व और सम्यक्त्त्व मिले हुए मिश्ररूप। इसीके उदयमे मिश्र नामक तीसरा गुणस्थान होता है। तीसरे सम्यक्त-रूप, जिसको सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व कहते हैं। इसमें यद्यपि सम्यक्त होता है, परन्तु मिथ्यात्वकी झलक होनेके कारण मल-सहित होता है। इसको वेदक-सम्यक्त्त्व कहते हैं, और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्त्व भी कहते है। इस सम्यक्त्वमे तीन प्रकारके दोष होते हैं–चल, मल, और अगाढ। जिसके सम्यक् भावमे तरंग उठती है उसको चल कहते है। दृष्टान्त-रूप उसको यह विचार होता है कि यह मन्दिर मेरा है, यह दूसरेका है। इस प्रकार उसका श्रद्धान अनेक प्रकार चलायमान होता है, परन्तु आत्मीक श्रद्धानमे वाधा नही आती है। इस कारण सम्यक्त्व वना ही रहता है। इस सम्यक्त्वीमे शंकादि दोष भी उत्पन्न होते है, जो २५ प्रकारके है और जिनको मल कहते हैं। इनका वर्णन आगे किया जावेगा। और यह सम्यक्त्व गाढ़ा अर्थात् दृढ़ भी नहीं होता है; इस कारण इसमे अगाढ़ दोष होता है। अर्थात् इसको ऐसी २ प्रतीति होती है कि अमुक भगवानकी पूजा करनेसे अमुक कष्ट दूर होता है, और अमुक भगवान्का नाम लेनेसे अमुक कार्य सिद्ध होता है। इत्यादि अदृढ़ता अर्थात् गैर-मजवूती उसके श्रद्धानमें होती है। ऐसा सम्यक्त्वी सातवे अप्रमत्त गुणस्थान तक पहुंच सकता है अर्थात् मुनि तक हो सकता है।

सम्यक्त्वके भेद।

बीमारीके दूर होनेकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। एक बीमारीका

प्रगट-रूप हट जाना, परन्तु वीमारीके कारणोका शरीरमे मौजूद रहना । जैसे बुखार उतर गया है, परन्तु बुखारका कारण नही हटा, इस कारण बुखार फिर चढेगा । इसको उपशम कहते हैं । दूसरे वीमारीका कुछ कम हो जाना और उसके कारणोंका कुछ नष्ट हो जाना, कुछ मौजूद रहना । इसको क्षायोपशम कहते हैं । तीसरे वीमारीके कारणोका विलकुल दूर हो जाना । इसको क्षय कहते हैं । इसी प्रकार मिथ्यात्व भी एक वीमारी है, जिसका दूर होना अर्थात् सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है । क्षायोपशम-सम्यक्तका तो ऊपर वर्णन हो चुका है । मिथ्यात्वका उपशम होकर सम्यक्त होना उपशम-सम्यक्त्व है । और मिथ्यात्वके क्षय होनेसे सम्यक्तका होना क्षायक-सम्यक्त्व होता है ।

उपशमसम्यक्तसे न तो मुक्ति हो सकती है और न क्षायक-सम्यक्त होता है । उपशमसम्यक्त तो मिथ्यात्वके दबनेसे हुआ है, जिसमे मिथ्यात्व मौजूद जरूर है । इस कारण वह मिथ्यात्व उभर कर अवश्य उपशमसम्यक्तको विगाड़ता है ।

उपशमसम्यक्तके दो भेद हैं । मिथ्यात्व अवस्थासे जो उपशमसम्यक्त होता है उसको प्रथमोपशम-सम्यक्त कहते हैं, और वह अन्तरमुहूर्त रहता है । अन्तरमुहूर्तके पीछे यातो मिथ्यात्वी हो जावेगा या क्षायोपशमिक अर्थात् वेदकसम्यक्त हो जावेगा । जिस सातवे गुणस्थानी महामुनिको क्षायोपशमिक सम्यक्त हो उसको यदि क्षायोपशमिक सम्यक्तसे औपशमिक सम्यक्त हो जावे तो उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त कहते हैं । ऐसा सम्यक्त्वी ग्यारहवे गुणस्थान तक जा सकता है, परंतु आगे उन्नति नही कर सकता । वह अवश्य नीचे ही गिरता है ।

क्षायकसम्यक्त प्राप्त होने पर फिर नही छूटता है । क्षायकसम्यक्त्वी अधिकसे अधिक चार भव धारण करके मोक्ष पा लेता है । इसमें प्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त होकर फिर क्षायक-

सम्यक्त होता है। परन्तु क्षायकसम्यक्त प्राप्त होनेका प्रारम्भ श्रीकेवली भगवान वा श्रुतकेवलीके निकट ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह नियम प्रारम्भ करनेका ही है। क्षायकसम्यक्तकी प्राप्ति चाहे अन्य भवमे हो और तब केवली भगवान मिले वा न मिले तब भी प्राप्त हो जाता है।

सम्यक्तके ८ अंग।

चारों प्रकारका सम्यक्त निम्न लिखित आठ अङ्गोके होनेसे ही अधिक कार्यकारी और शोभायमान होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन इन अङ्गोके विना भी हो सकता है। वे ८ अङ्ग इस प्रकार हैं।

१ निःशङ्कित—तत्वार्थमे अर्थात् उन सिद्धान्तों और पदार्थोंमें जिनमे श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, किसी प्रकारकी शङ्का न करना—संदेह न करना कि वह सिद्धान्त वा पदार्थ सत्य है या झूठ है। परन्तु समझनेके अर्थ विचार करना, तर्क उठाना और विद्वानोंसे पूछना शङ्का नहीं है।

२ निःकांक्षित—अपने पुण्यरूप कर्मोंसे अर्थात् धर्म-साधनसे सांसारिक फल प्राप्तिकी वांच्छा नहीं करना।

३ निर्विचिकित्सा—अर्थात् किसी जीवको दुखी, दरिद्री, अपवित्र, कुचेष्टावान आदि अवस्थामे देख कर ग्लानि न करना; यही समझना कि ये सब नीच कर्म ही नाच नचा रहे हैं। और संसारकी अपवित्र घिणावनी वस्तुओंको देख कर भी घृणा न करना; यही विचार करना कि इन वस्तुओंका ऐसा ही स्वरूप है, और यह तेरा शरीर तो सबसे ही अधिक अपवित्र है।

४ अमूढदृष्टित्व—अर्थात् बिना सोचे समझे, बिना परीक्षा किये, अन्धेकी तरह लोगोके देखा देखी अर्थात् जिस प्रकार लोकमें प्रवृत्ति हो रही है उसीके अनुसार देव, गुरु, शास्त्र, और धर्मको मानना, मूढ़ता है। सम्यक्तीको उचित है कि वह मूढ़ताको छोड़कर लोक-प्रचारके अनुसार न प्रवर्ते, विचार और परीक्षाके साथ

ही धर्मकी बातोंको माने।

५ उपगूहन—सम्यग्दृष्टिको धर्मसे प्रीति होती है, इस कारण यदि किसी धर्मात्मामे अज्ञानता वा अशक्तताके कारण कोई दोष उत्पन्न हो जावे और उसके दोषके कारण सत्य धर्मकी निन्दा होती हो तो उस निन्दाको सम्यग्दृष्टि छिपाता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि किसीके दोष प्रगट करना पसंद नहीं करता है, वरन उसके दोषोको छिपाकर दोषी पुरुषमेंसे दोष दूर करनेकी इच्छा करता है और वह अपने शुद्ध स्वभावोकी वृद्धि करनेकी भी कोशिश करता रहता है।

६ स्थितिकरण—अपने परिणाम धर्मसे भ्रष्ट होते हों तो आपको, और जो दूसरे किसी मनुष्यके परिणाम भ्रष्ट होते हों तो उस मनुष्यको जिस प्रकार हो सके धर्ममें स्थित करना।

७ वात्सल्य—साधर्मी जनोके साथ ऐसी प्रीति रखना जैसे गौ और उसके बच्चेमे होती है।

८ प्रभावना—सत्य धर्मके महात्म्यका प्रकाश करना। ऐसा आचरण रखना और ऐसे कार्य करना जिससे संसारके सब जीवों पर धर्मका प्रभाव पड़े।

ये उपरोक्त आठ अग सम्यग्दर्शनके हैं। इन अंगोंके बिना सम्यग्दर्शन पूरी तरह कार्यकारी नहीं होता है।

सम्यग्दर्शनके २५ मल।

सम्यग्दर्शन-सम्बन्धी २५ प्रकारके मल अर्थात् मैल होते हैं। यदि ये मैल न हों तो सम्यग्दर्शन विशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है और यदि मल हो तो मल-सहित होता है। परन्तु यह नहीं है कि २५ प्रकारके मल दूर होनेपर ही सम्यग्दर्शन हो सके। सम्यग्दर्शन मल-सहित भी होता है, परन्तु उतना कार्यकारी नहीं होता है जितना मल-रहित होता है। चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन होता है। किस किस गुण-

स्थानमे सम्यग्दर्शनकी कैसी कैसी विशुद्धता होती है यह वात महान ग्रन्थोसे ही मालूम हो सकती है । यहां तो समुच्चयरूप कथन किया जाता है ।

२५ मल इस प्रकार हैं–३ मूढ़ता, ८ दोष, ८ मद, और ६ अनायतन ।

मूढ़ता–विना विचारे लोक-प्रवृत्तिके अनुसार रागी द्वेषी देवोको देव मानकर पूजना और उनसे अपने सांसारिक कार्योंकी सिद्धि मानना देवमूढ़ता है । लोकमे जिस प्रकार धर्मकी प्रवृत्ति हो रही है, उसी प्रकार विना विचारे धर्म मानना । जैसे गङ्गा स्नान करनेसे मुक्ति, ब्राह्मणोको भोजन खिलानेसे मृतक पूर्वजोको सुख होना, इत्यादि अनेक मिथ्या प्रवृत्तियोके अनुसार प्रवर्तना लोकमूढ़ता है । मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्यादृष्टि साधु और मिथ्या धर्मका सेवन, पूजन, विनय आदि भय,वांछा और स्नेह आदि के कारण करना यह सब धर्ममूढता है । भावार्थ यह कि विना बिचारे आंख मींच कर लोक-प्रवृत्तिके अनुसार किसी भी बातको मानना वा उस रूप प्रवर्तना मूढ़ता है । सम्यग्दृष्टिको तो लोक-प्रवृत्तिका कुछ भी आश्रय न लेना चाहिये, किन्तु सब काम विचार-पूर्वक ही करना चाहिये ।

दोष–सम्यग्दर्शनके आठ अंग निःशंकित आदि जो ऊपर वर्णन किये गये हैं उनका न होना आठ प्रकारके दोष हैं ।

मद–मान कषायसे उत्पन्न अहंकारके कारण घमंड (गरूर) करनेको मद कहते हैं । मद आठ बातोंका होता है । १ विज्ञान अर्थात् किसी कला वा हुनरके जाननेका वा विद्या पंडिताईका मद, २ ऐश्वर्य अर्थात् धन-दौलत वा किसी सांसारिक पदवीका मद, ३ ज्ञान अर्थात् तीक्ष्णबुद्धि वा अवधिज्ञान आदि प्राप्तिका मद, ४ तपका मद, ५ कुलका मद कि मेरा उच्च कुल है, ६ जातिका मद कि मैं उत्तम जातिका हूं, ७ शरीरके बलका मद,

और ८ रूपका मद कि मै सुन्दर रूपवान हूं। सम्यग्दृष्टिको किसी प्रकारका भी मद नहीं करना चाहिये।

अनायतन–धर्मके आश्रयको आयतन कहते हैं। खोटे आश्रयको अनायतन कहते हैं। वे छह हैं–मिथ्या देव, मिथ्या देवोंके सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रोंके धारक। इन सब अनायतनोको त्यागना उचित है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके २५ मल वर्णन किये गये।

७ प्रकारके भय।

सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गोमे निःशङ्कित अङ्गका लक्षण सूक्ष्मदृष्टिसे वर्णन करने पर भयका त्याग भी इस अङ्गमे गर्भित होता है। क्योंकि जिसको तत्वोंमें पूर्ण श्रद्धान है और सासारिक सर्व प्रकारके सुख दुःखको कर्मोंके उदयसे ही होना मानता है और इन सासारिक सुख दुःखोंको अपनेसे पर समझता है तो उसको भय ही किस बातका होवे। उसको भय तो तभी प्राप्त हो सकता है जब उसके श्रद्धानमें शङ्का दोष उत्पन्न हो। भय ७ प्रकारका है–१ इस लोक सम्बन्धी किसी बातका भय, २ परलोक अर्थात् अगले जन्म सम्बन्धी किसी बातका भय, ३ मरण भय, ४ वेदना भय, ५ अनरक्षा भय, अर्थात इस बातका भय कि मेरा कोई रक्षक नहीं है, ६ व्याधि भय, और ७ अकस्मात् भय अर्थात् इस बातका भय कि नहीं मालूम किसी समय अचानक क्या हो जावे? इसके अलावा सम्यग्दृष्टि सम्यक्श्रद्धान करनेमे, सच्चा धर्म धारण करनेमे किसी प्रकारका भी भय नहीं करता है। सच्चा धर्म धारण करनेसे चाहे कोई कैसा भी द्वेष उसके साथ करे, चाहे कैसा भी कष्ट आनेकी सम्भावना होवे तौभी सम्यग्दृष्टि अपने धर्मसे नहीं डिगता है। वह धर्मके मुकाबलेमे इन आपत्तियोंको कुछ भी नहीं समझता है। इस कारण वह निर्भय होकर अपने धर्म पर कायम रहता है। किसीके डरानेसे वा नुकसान पहुंचानेसे अपना धर्म

नहीं छोड़ता है।

सम्यक्त्वके ५ अतीचार।

श्रीउमास्वामीकृत तत्वार्थसूत्रमें सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार वर्णन किये हैं। दोष लगनेको अतीचार कहते हैं। अर्थात् अतीचार-सहित जो सम्यग्दर्शन होता है वह सम्यग्दर्शन तो है, परन्तु निर्मल-निर्दोष नहीं होता है। अतीचार इस प्रकार हैं—१ शङ्का, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ अन्यदृष्टि-प्रशंसा अर्थात् मिथ्यादृष्टिके ज्ञान चारित्रकी प्रशंसा करना और उसको अच्छा समझना, ५ अन्यदृष्टि-संस्तव अर्थात् मिथ्यादृष्टिके गुणोका प्रकाश करना—गुणानुवाद गाना।

श्रुतकेवली भगवानको जो सम्यग्दर्शन होता है वह अवगाढ़ कहलाता है। गाढ़ा अर्थात् दृढ़ श्रद्धानको अवगाढ़ कहते हैं। और तेरहवे गुणस्थानी श्रीसर्वज्ञ भगवानको जो सम्यग्दर्शन होता है वह परमावगाढ़ अर्थात् परम दृढ़ श्रद्धान कहाता है।

चौथे गुणस्थानी सम्यग्दृष्टिका लक्षण यह है कि उसमे चार बातें प्रगट हों—१ प्रशम अर्थात् कषायोकी मन्दता। २ संवेग अर्थात् कर्मोंसे भयभीतता। ३ अनुकम्पा अर्थात् जीवोपर दया। ४ आस्तिक्य अर्थात् जीवात्माको अनादि अनन्त और देहसे पृथक जानना।

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं च॥ ४२॥

अर्थ—संशय, विमोह और विभ्रम-रूप कुज्ञानसे रहित आपा-परका अर्थात् आत्माका और पर पदार्थका स्वरूप जानना सम्यग्ज्ञान है। वह आकार-सहित अर्थात् सविकल्प है, और उसके अनेक भेद हैं।

भावार्थ—संशय अर्थात् नही मालूम ऐसे है या वैसे है। विमोह

जिसको अनध्यवसाय भी कहते हैं । जैसे गमन करते हुए मनुष्यके पैरमे किसी घास आदिका स्पर्श हो जावे और उसको यह मालूम नहीं होता है कि क्या लगा । अथवा जैसे दिशाका भूल जाना होता है। उसी प्रकार एक दूसरेकी अपेक्षाके धारक जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है उनके अनुसार द्रव्य-गुण-पर्यायका जो नहीं जानना है उसको विमोह कहते हैं। विभ्रम अर्थात् विपरीत जानना या एकान्त पक्षसे जानना । इन तीनो विधिसे जाननेको ज्ञान नही कहते है । ठीक २ जाननेको ही ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन-सहित हो तो सम्यग्ज्ञान कहाता है। सम्यग्ज्ञानके अनेक भेद हैं।

प्रमाण ।

सम्यग्ज्ञान जीवको पाच रीतिसे होता है—मति, श्रुति, अवधि, मन पर्य्यय, और केवल । इनमे अवधि, मन पर्य्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं अर्थात् पदार्थको स्पष्टरूपसे जानते हैं। और मति, श्रुतिज्ञान प्रमाण तो हैं परन्तु साक्षात् नही हैं—दूसरेके सहारेसे अस्पष्ट-रूप जानते हैं, इस कारण परोक्ष-प्रमाण हैं। व्यवहारमें जो ज्ञान इन्द्रियों और मनके द्वारा होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । इसलिये इसका नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यथार्थ जाननेको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही रीतिसे यथार्थ ज्ञान हो सकता है । परोक्ष ज्ञान ५ प्रकारसे होता है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम। इनको परोक्ष-प्रमाण कहते हैं।

१ स्मृति—पहली जानी हुई बातको याद करना।

२ प्रत्यभिज्ञान—किसी वस्तुको देख कर यह विचार करना कि यह पहली देखी हुई वस्तु है, या उसके समान है, या वैसी नही है, इत्यादि मिलान करनेरूप ज्ञानको प्रत्याभिज्ञान कहते हैं।

३ तर्क—व्याप्तिका ज्ञान। दो वस्तुओंके एक साथ रहनेके सम्ब-

न्धको वा आगे पीछे होनेके सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। जैसे-धूआं अग्निसे ही उत्पन्न होता है-विना अग्नि धूआं नहीं हो सकता है। सूरजकी धूपमे प्रकाश और आताप एक साथ रहते है। वर्षा ऋतुके पीछे शरद ऋतु और शरद ऋतुसे पहले वर्षा ऋतु होती है। दिनके पीछे रात और रातके पीछे दिन होता है। इत्यादि।

४ अनुमान-व्याप्तिके सहारेसे एक वस्तुको देखकर दूसरी वस्तुको जान लेना अर्थात् हेतुसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। जैसे-धूम्रको देखकर अग्निका अनुमान करना, पुत्रको देखकर उसके पिता-माताका अनुमान करना। जिस वस्तुके सिद्ध करनेकी वादी प्रतिवादीको अभिलाषा है उसको साध्य कहते हैं। साध्यके साथ जिसकी व्याप्ति हो अर्थात् जिस जानी हुई वस्तुके सहारेसे साध्यका अनुमान किया जा सकता है उसको हेतु कहते हैं। हेतुके द्वारा साध्यके ज्ञानको ही अनुमान कहते हैं। धूम्र अग्निसे ही पैदा होता है, इस कारण धूम्रको देखकर अग्निका अनुमान होता है। इसमें अग्नि साध्य है और धूम्र हेतु है।

५ आगम-आप्त-वचनको आगम कहते है और आगमके द्वारा जो ज्ञान हो उसको आगम-प्रमाण कहते है। सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक, ये गुण जिसमें हों वह आप्त है, और उनके वचन प्रमाण होते हैं। ऐसे गुणोवाले आप्त श्रीतीर्थंकर भगवान् ही होते है, जिनकी वाणीसे जैनधर्मकी प्रवृत्ति है।

नय।

वस्तुमें अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं। उनमेसे किसी एक धर्मकी मुख्यता लेकर वस्तुको जानना नय है। अथवा वक्ताने अनेकान्तात्मक वस्तुके जिस धर्मकी अपेक्षासे शब्द कहा है उसके उस ही अभिप्रायको जानने वाले ज्ञानको नय कहते हैं।

नयके मूल भेद दो है-१ पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना निश्चयनय है। इसको भूतार्थनय भी कहते हैं। २ एक

पदार्थको पर वस्तुके निमित्तसे व्यवहार साधनके अर्थ अन्यथारूप कहना व्यवहारनय है । इसको अभूतार्थनय भी कहते हैं और इसका नाम उपनय भी है ।

निश्चयनयके दो भेद हैं-१ द्रव्यार्थिक और २ पर्य्यायार्थिक । प्रत्येक वस्तुमे सामान्य और विशेप गुण हुआ करते हैं । सामान्य गुण वे होते हैं जो अन्य वस्तुमें भी हो । और विशेष गुण वे होते हैं जो उस ही वस्तुमे हो । वस्तुके विशेष गुणको गौण करके सामान्य गुणकी अपेक्षासे वस्तुको ग्रहण करना द्रव्यार्थिकनय है । और सामान्य गुणको गौण करके विशेष गुणकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करना पर्य्यायार्थिकनय है ।

द्रव्यार्थिकनयके तीन भेद है-नैगम, संग्रह और व्यवहार ।

नैगम-एक वस्तुमें अनेक पर्याये अर्थात् अवस्थाएँ होती हैं । एक पर्यायसे दूसरी पर्याय पलटती रहती है । कोई पर्य्याय हो चुकी है, कोई पर्य्याय अव है, और कोई होनेवाली है । अतीत अर्थात् जो कार्य पहले हो चुका है उसमे वर्तमान कालका आरोपण करना भूतनैगम है । जैसे दीवालीके दिन यह कहना कि आजके दिन श्रीमहावीरस्वामी निर्वाणको प्राप्त हुए । होने वाले कार्यका अतीतकी तरह कथन करना भावी-नैगम है । जैसे अर्हंतोंको सिद्ध कहना । और जहां कार्यका प्रारम्भ कर दिया गया हो, परन्तु बिलकुल तैयार न हुआ हो उसको तय्यार हुआ कहना वर्तमान-नैगम है । जैसे कोई मनुष्य चूल्हेमें आग जलाता है, अभी आटा भी नहीं गूंदा है, परन्तु यदि कोई पूछे कि क्या करते हो, तो उसका यह कहना कि रोटी बनाता हूं । यह सब कथन नैगमनयके द्वारा सार्थक है, मिथ्या नहीं है ।

संग्रह-संसारमे अनन्तानन्त वस्तुएँ हैं । सवको पृथक २ जानना और वर्णन करना बहुत कठिन है । इस हेतु अनेक वस्तुओंकी एक जाति नियत कर ली जाती है । जैसे काला, गोरा,

लाल, बड़ा, छोटा, तेज चलने वाला, धीरे चलने वाला, आदि अनेक प्रकारके घोड़े होते हैं, परन्तु उन सबकी एक ही जाति 'घोड़ा' नियत कर ली गई। इसी प्रकार अनेक प्रकारकी गऊकी एक जाति 'गऊ', अनेक प्रकारके कुत्तोकी एक जाति 'कुत्ता', अनेक प्रकारके मनुष्योकी एक जाति 'मनुष्य', अनेक प्रकारके वृक्षोकी एक जाति 'वृक्ष', अनेक प्रकारके मकानोकी एक जाति 'मकान', अनेक प्रकारके कपड़ोंकी एक जाति 'कपड़ा', अनेक प्रकारके बर्तनोकी एक जाति 'बर्तन' नियत की गई। इसी प्रकार जब हम घोड़े, गऊ, मनुष्य, कुत्ता, वृक्ष, मकान, कपड़े, अथवा बर्तनोका वर्णन करते हैं और उनके भेद करके किसी विशेष वस्तुका वर्णन नही करते है, तो हमारा वर्णन संग्रह-नयके अनुसार है। क्योकि जब हम साधारण-रूपसे मनुष्य-मात्रका वर्णन करते है तो उसमे सब ही प्रकारके मनुष्य आ गये अर्थात् तब तो हम सब प्रकारके मनुष्योका संग्रह करके वर्णन करते हैं।

मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, वृक्ष, गऊ आदि अनेक जातियोको संग्रह करके एक 'जीव' जाति होती है। और मकान, कपड़ा, बर्तन, घड़ा, पुस्तक आदि अनेक जातिकी वस्तुओको संग्रह करके एक 'पुद्गल' जाति होती है। इस कारण जब हम जीव-मात्रका वा पुद्गल-मात्रका वर्णन करते है तब संग्रहनयको और भी अधिक काममे लाते हैं। फिर जीव, पुद्गल आदि जातिको संग्रह करके जगतकी सर्व वस्तुओको एक 'द्रव्य' नाम कर कथन करते हैं और समुच्चय-रूप द्रव्यको वर्णन करके संग्रहनयको सबसे ही अधिक काममे लाते हैं।

व्यवहार—संग्रहनयसे ग्रहण किये हुए विषयको जो भेद-रूप करती है उसको व्यवहारनय कहते है। जैसे द्रव्यके दो भेद—जीव और अजीव करके किसी एक भेदका कथन करना। जीवके चार भेद—मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी करके किसी एकका कथन

करना । तिर्यंचोके भेद घोड़ा, बैल, कीड़ी, मकोडी, वृक्ष आदि करना । वृक्षोंके भेद-आम, नीबू, अनार, नारंगी, आलू, मूली आदि करना । आमके भेद सालदा, देसी, बम्बई आदि करना । देसी आमके भेद संदूरया, मीठा, खट्टा आदि करना । इसी प्रकार भेदाभेद करते जाना । यह सब व्यवहारनय है ।

पर्य्यायार्थिकनयके चार भेद है-ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

ऋजुसूत्र-प्रत्येक वस्तुकी पर्य्याय समय २ पर पलटती रहती है । परन्तु वीती हुई और आगे होने वाली पर्यायोंको छोडकर वर्तमान पर्य्यायका ही कथन करना अर्थात् एक पर्य्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्रनय है ।

शब्द-जो व्याकरणके अनुसार सिद्ध शब्दोंको स्वीकार करता है और कालादिके भेदसे धर्मका भेद मानता है वह शब्दनय है ।

समभिरूढ-किसी पदार्थमें एक मुख्य गुणको लेकर उस पदार्थके अन्य क्रिया-रूप प्रवर्तनेके समय भी उस ही मुख्य गुणके अनुसार उस वस्तुको ग्रहण करना । जैसे जो न्याय करे वह न्यायाधीश, मुंसिफ या जज्ज कहाता है, परन्तु किसी न्यायाधीशको जव वह सोता हो अथवा खाता हो अर्थात् न्याय करनेका काम न करता हो उस वक्त भी न्यायाधीश ही कहना । यह समभिरूढनयके अनुसार है ।

एवंभूत-समभिरूढ नयके विरुद्ध अर्थात् जिस कालमें कोई वस्तु जो क्रिया करती हो उसीके अनुसार ग्रहण करना । जैसे जिस समय न्याय करता हो उस समय न्यायाधीश कहना, दूसरे समयमें न कहना । यह एवंभूतनयका विषय है ।

इस प्रकार निश्चयनयके सात भेदोंका कथन किया ।

व्यवहारनयको उपचार और उपनय भी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं-सद्भूत, असद्भूत और उपचरित ।

सद्भूत-वस्तु और उसका गुण पृथक २ दो पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार वस्तु और उसकी पर्य्यायें भिन्न २ दो पदार्थ नहीं हैं। परन्तु गुण और गुणीमे भेद करना वा पर्य्यांय और पर्य्यायीमे भेद करना अर्थात् इनको भिन्न २ कथन करना वा अखण्ड द्रव्यको वहुप्रदेश-रूप कहना। यह सद्भूतव्यवहारनय है।

असद्भूत-किसी वस्तुके धर्मको किसी दूसरी वस्तुमें समारोप करना। यह समारोपण तीन प्रकार होता है-१ अपनी ही जाति वालेमे समारोपण करना। जैसे चन्द्रमाके प्रतिविम्वको, जो जल आदिमे पडता है, चन्द्रमा कहना। २ विजातिमे विजातिका समारोप। जैसे मतिज्ञानको मूर्तीक कहना। ३ सजाति विजातिमे सजाति और विजाति दोनोका समारोप करना। जैसे ज्ञेयको ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञान कहना।

उपचरित-इस नयको उपचरितासद्भूत-व्यवहार-नय भी कहते हैं। प्रयोजन और निमित्तके वशसे इस नयकी प्रवृत्ति होती है। इसके भी तीन भेद है-१ अपनी ही जाति वाली वस्तुमे उपचार करना। जैसे मित्र, पुत्र आदि जीवोको कहना कि ये मेरे हैं। २ विजाति वस्तुमे उपचार करना। जैसे महल, मकान, रुपया पैसा आदिको अपना वताना। ३ सजाति और विजाति दोनों प्रकारकी वस्तुमें उपचार करना। जैसे यह कहना कि यह गाड़ी मेरी है, जिसमे गाड़ी अजीव है और वैल घोड़ा आदि जो उसमे जुते हुए है वे जीव है-इन दोनोंको अपना वताया।

किसी २ ग्रन्थमे नयके निम्न प्रकार भी भेद किये गये हैं-

निश्चय-जो वस्तुको अभेद-रूप ग्रहण करे। इसके दो भेद हैं-शुद्ध और अशुद्ध। वस्तुको निरुपाधी-रूप उसके शुद्ध गुणके अनुसार कथन करना-जैसे जीवको सर्वज्ञ और परमानन्द स्वरूप वर्णन करना, यह शुद्ध-निश्चय-नय है। और उपाधीसहित कथन करना, जैसे जीवको इन्द्रिय-जनित ज्ञानवाला वा सुखी दुखी वर्णन

करना, यह अशुद्ध-निश्चय-नय है।

व्यवहार—जो वस्तुको भेद-रूप ग्रहण करे। इसके भी दो भेद हैं—सद्भूत और असद्भूत। गुण और गुणीको भिन्न २ ग्रहण करना सद्भूत-व्यवहार-नय है। इसके भी फिर दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित। उपाधिक गुण गुणीको भेद-रूप ग्रहण करना, जैसे यह कहना कि जीवमे मतिज्ञान आदि गुण हैं, यह उपचरित-सद्भूत-नय है। और निरूपाधिक गुण गुणीको भेद रूप कथन करना, जैसे यह कहना कि जीवमे केवलज्ञान गुण है, यह अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार-नय है। भिन्न २ पदार्थोंको अभेद-रूप ग्रहण करना असद्भूत-व्यवहार-नय है। इसके भी दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित। जो अपनेसे विलकुल भिन्न पर वस्तुको अभेद-रूप ग्रहण करे, जैसे यह रुपया पैसा मेरा है, यह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-नय है। जो ऐसी पर वस्तुको अभेद-रूप ग्रहण करे जो कि मिल कर एक हो रही हो, जैसे यह शरीर मेरा है, यह अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहार-नय है।

वास्तवमे नयके भेद वहुत हैं। जितनी वस्तु हैं वा जितने शब्द हैं उतनी ही नय हैं। नयका विशेष वर्णन महान ग्रन्थोसे जानना चाहिये।

वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयसे ही होता है। इस कारण प्रमाण और नयका समझना अति आवश्यक है।

निक्षेप।

पदार्थोंका लौकिक व्यवहार निक्षेपसे होता है। इनका भी जानना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव, ये चार निक्षेप हैं।

नाम—पहचानके वास्ते वस्तुओंका नाम रक्खा जाता है। जैसे किसी मनुष्यका नाम शेरसिंह रक्खा जावे तो वह पहचानके वास्ते ही रक्खा जाता है। चाहे वह वहुत ही कमजोर हो और

शेर वा सिंहकी कोई भी वात उसमे न हो, परन्तु शेरसिंह नामसे वही मनुष्य समझना चाहिये जिसका वह नाम रक्खा गया है।

स्थापना-किसी एक वस्तुको दूसरी वस्तु स्थापन करना । यह दो प्रकार है-एक तदाकार और दूसरी अतदाकार । समान आकार वाली वस्तुमें स्थापना करना तदाकार है । जैसे घोड़ेका आकार अर्थात् मूर्ति बनाकर उस मूर्तिको घोड़ा कहना । इसी प्रकार किसी मनुष्यकी मूर्ति बना कर मूर्तिको वह मनुष्य कहना जिसकी वह मूर्ति है । असमान आकार वाली वस्तुमें किसी वस्तुकी स्थापना करना अतदाकार स्थापना है । जैसे किसी देशके नकशे पर एक विन्दुको यह कहना कि यह अमुक नगर है, और दूसरी विन्दुको यह कहना कि वह दूसरा अमुक नगर है।

द्रव्य-जिस वस्तुमे कोई गुण आगामी प्रगट होगा वा कोई गुण था और अव नहीं है, तौ भी उसको उस गुणरूप कहना। जैसे कोई पुरुष राजा होने वाला है उसको अभीसे राजा कहना। कोई पहले दारोगा था और अव नहीं है, परन्तु अव भी उसको दारोगाजी ही कहना।

भाव-वर्तमान समयमे जो जैसा हो उसको वैसा ही कहना। जैसे राज्य करनेवालेको राजा कहना।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥ ४३ ॥

अर्थ-यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह छोटा है, यह वड़ा है, यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूपसे पदार्थोंको भिन्न भिन्न न करके अर्थात् किसी भी प्रकारका विकल्प न करके पदार्थोंका जो सामान्य-रूप ग्रहण करना है उसको परमागममें दर्शन कहा गया है।

भावार्थ-संसारमे अनेक वस्तु हैं । वे सब पृथक २ चिन्होंसे

ही पहचानी जाती हैं । जब तक इतना थोड़ा ज्ञान होता है कि कोई वस्तु है । परन्तु यह ज्ञान नहीं होता कि क्या वस्तु है ? अर्थात् जबतक अनेक वस्तुओके पृथक २ चिन्होमेसे किसी भी चिन्हका ज्ञान नही होता है जिसके द्वारा भेद हो सके कि अमुक वस्तु है वा अमुक प्रकारकी वा अमुक जाति वा अमुक चिन्हकी वस्तु है, तब तक उस तुच्छ ज्ञानको दर्शन कहते हैं । उस तुच्छ सत्ता-मात्र सामान्य बोधका नाम ज्ञान नही होता है । फिर जब कुछ भी किसी प्रकारके चिन्हका ज्ञान हो जाता है, जैसे जब इतना भी ज्ञान हो जाता है कि वह वस्तु काली है, वा धौली है, तबसे ही वह जानना ज्ञान कहलाने लगता है । यद्यपि इतना ही बोध होनेसे कि कुछ है, और काला है या धौला है । लेकिन इस बातका बोध नही हुआ कि वह क्या वस्तु है ? क्योकि काली अनेक वस्तु होती हैं और धौली भी अनेक वस्तु होती हैं । तौभी इतने बोधको ही ज्ञान कहते हैं । और इससे कमती बोधको, जिसमे यह भी मालूम नहीं हुआ कि वह वस्तु काली है, या धौली है, या कैसी है, सिर्फ इतना ही जाना है कि कोई वस्तु है, यह नहीं मालूम कि वह कैसी है, उसको दर्शन कहते हैं ।

पाठकोंको जानना चाहिये कि जैन शास्त्रोमें ' दर्शन ' शब्द दो अर्थोंमे आया है । दर्शनका एक अर्थ श्रद्धानका है और दूसरा अर्थ उस तुच्छ बोधका है, जिसमें इतना ही जानपना हुआ है कि कोई वस्तु है । जहां शास्त्रोंमे रत्नत्रयका वर्णन है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्रका कथन है, अथवा मिथ्यादर्शन वा सम्यग्दर्शनका कथन है वहां तो दर्शनका अर्थ श्रद्धान है । और जहा उपयोग भेदोका वर्णन है वहां सबसे कमती ज्ञान अर्थात् सत्तामात्रके ज्ञानको दर्शन कहा है । मिथ्यादर्शन तो दर्शनमोहनीकर्मके उदयसे और सम्यग्दर्शन दर्शन-मोहनी-कर्मके नष्ट होने वा

उदय न होनेसे उत्पन्न होता है। और जिस कमती ज्ञानको दर्शन कहते हैं वह दर्शनावरणी कर्मके नष्ट होने वा उदय न होनेसे होता है।

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ ४४ ॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवोंको ज्ञानके पूर्व दर्शन होता है, क्योंकि उनको ज्ञान और दर्शन, ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। लेकिन केवलीभगवानको ये दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

भावार्थ—जो जीव सर्वज्ञ नही है उसको पहले दर्शन होता है, पीछे ज्ञान होता है। अर्थात् पहले समयमे वस्तुका इतना ही ज्ञान होता है कि कुछ है, इसको दर्शन कहते हैं। फिर दूसरे समयमे यह माल्रूम होता है कि वस्तु किस प्रकारकी है, अर्थात् काली है, धौली है या अन्य किसी प्रकारकी है। फिर आइस्ता २ यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक वस्तु है। समय कालका सबसे छोटा भाग होता है जो हमारी तमीजमे आना कठिन है। इस कारण हमको यह माल्रूम नही होता है कि प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसको इस ही क्रमसे जानते है। हम तो यह ही समझते है कि दृष्टि पड़ते ही हम वस्तुको जान लेते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। हमको पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है।

केवली भगवान अर्थात् सर्वज्ञको क्रमरूप ज्ञान नही होता है। उनको एक साथ ही सब कुछ बोध होता है। यहां तक कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनो कालका ज्ञान एक साथ होता है। इसलिये उनको दर्शन और ज्ञान दोनो उपयोग युगपत् एक साथ ही होते हैं। उनके ज्ञानमें समय-भेद नहीं है।

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—जिसको अशुभ कार्यसे वचना है और शुभ कार्यमे लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये । श्रीजिनेंद्र भगवानने व्यवहारनयसे उस चारित्रको व्रत, समिति और गुप्तिस्वरूप कहा है ।

भावार्थ—अपने ही शुद्ध आत्म भावोमे रमण करना निश्चयचारित्र है । और इस अवस्थाको प्राप्त होनेका जो कारण है वह व्यवहारचारित्र है । वह व्यवहारचारित्र क्या है—अशुभ अर्थात् खोटे कार्योंका न करना और अच्छे कार्योंका करना । वे अच्छे कार्य, जिनसे निश्चयचारित्रकी सिद्धि होती है, व्रत, समिति और गुप्ति हैं ।

व्रत पांच प्रकार है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । समिति भी पांच प्रकार है । और गुप्ति तीन प्रकार है । इन सवके स्वरूपका वर्णन सवरके कथनमें हो चुका है । इस प्रकार चारित्र १३ प्रकार है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं, परन्तु यह नियम नहीं है कि चारित्र भी इनके साथ अवश्य ही हो । ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र विल्कुल भी न हो । ऐसी अवस्था वालेको अविरति-सम्यग्दृष्टि कहते हैं । चौथे गुणस्थान वालेकी यही अवस्था होती है कि सम्यक्त तो होगया है, परन्तु चारित्र कुछ भी ग्रहण नहीं किया है । जो जीव सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पश्चात् कुछ चारित्र ग्रहण करता है, परन्तु पूरे रूपसे चारित्रको नहीं पालता है, वह अणुव्रती, देशव्रती वा श्रावक कहलाता है । यह अवस्था पंचम गुणस्थान वालेकी होती है । और जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर सकलचारित्रको पालता है वह महाव्रती, वा साधु, वा मुनि कहलाता है, और छठे वा उससे भी ऊपरके गुणस्थान वाला होता है ।

ये पांच व्रत मुनि-अवस्थामें महाव्रत कहाते हैं और श्रावक अवस्थामे अणुव्रत । मुनिके आचारका कथन विस्तार-रूप बहुत कुछ है, जो भगवतीआराधनासार और मूलाचार आदि ग्रन्थोसे मालूम हो सकता है। परन्तु मोटेरूप कथनमें पांच महाव्रतोंका ही कथन है। समिति और गुप्तिको इन्हीमे गर्भित किया है।

५ महाव्रतोकी भावनाएँ।

बार बार चितवन करनेको भावना कहते हैं। पांच महाव्रतोके स्थिर रखनेके वास्ते प्रत्येक व्रतके अर्थ पांच २ भावनाएँ हैं, जिनका चिंतवन मुनिको बराबर रखना चाहिये।

अहिसाव्रतकी भावनाएँ-१ वचनगुप्ति अर्थात् वचनको अपने बशमें रखनेका चिंतवन रखना कि कभी ऐसा वचन मुखसे न निकले जिससे किसी प्राणीको पीड़ा हो । २ मनोगुप्ति अर्थात मनको अपने बशमे रखनेका चिंतवन रखना कि कभी कोई हिंसा-रूप विचार मनमे न आवे । ३ ईर्यासमिति अर्थात् इस वातका विचार रखना कि गमन करते समय किसी जीवकी हिंसा न हो जावे। ४ आदाननिक्षेपण अर्थात् इस वातका विचार रखना कि किसी वस्तुको उठाते वा रखते समय किसी जीवकी हिंसा न हो जावे। ५ आलोकितपानभोजन अर्थात् इस वातका विचार रखना कि भोजन पान आदि भले प्रकार देख शोध कर किया जावे, जिससे किसी जीवकी हिंसा न हो।

सत्यव्रतकी भावनाएँ-१ इस बातका विचार रखना कि क्रोध न आवे, २ लोभ न उपजे, ३ भय उत्पन्न न हो, क्योकि इन तीनों अवस्थाओमें असत्य वचन मुखसे निकल जाता है। ४ यह विचार रखना कि हास्यरूप वचन मुखसे न निकले, क्योकि हास्यमें भी असत्य वचन बोला जाता है। और ५ आगमके अनुसार पाप-रहित वचन बोलनेका विचार रखना।

अचौर्यव्रतकी भावनाएँ-१ इस बातका विचार रखना कि

ऐसे घरमे न रहें जहा कोई किसी प्रकारका असबाब हो, शून्य घर होना चाहिये, जिससे किसी वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छा न उपजने पावे । २ ऐसे स्थानमे रहना जो छोडा हुआ हो, जिससे किसीके ग्रहण किये हुए स्थानके ग्रहण करनेका दोष न आवे । ३ यदि कोई दूसरा जीव उस स्थानमे ठहरे जहां अपना वास हो तो उसको ठहरनेसे नहीं रोकना, क्योकि रोकनेसे उस स्थानको अपनी मिलकियत बनानेका दोप आता है । ४ इस बातका विचार रहे कि भिक्षाकी विधिमें न्यूनाधिकता न हो। क्योकि इससे भी पर वस्तु ग्रहण करनेका दोप लगता है। और ५ इस बातका भी विचार रखना चाहिये कि धर्मात्माओसे किसी प्रकारका झगड़ा न हो।

ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ—ऐसी बातोका बचाव रखना चाहिये जिनसे काम उत्पन्न होता हो—१ स्त्रियोंमे राग उत्पन्न करने वाली कथाके सुननेका त्याग । २ स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोके देखनेका त्याग। ३ पूर्व किये हुए विषय-भोगोंके याद करनेका त्याग। ४ कामोद्दीपन वस्तु खानेका त्याग । और ५ अपने शरीरको शृंगार करनेका त्याग।

परिग्रहव्रतकी भावनाएँ—इस बातका विचार रखना कि पांचों इन्द्रियॉ किसी इष्ट अनिष्ट वस्तुमे राग-द्वेष-रूप न प्रवर्तें।

इस प्रकार प्रत्येक व्रतकी पाच २ भावनाएँ हैं, जिनसे व्रतमें सावधानी रहती है । इनके अतिरिक्त मुनिको यह भी चिंतवन करते रहना चाहिये कि हिंसा आदिसे अर्थात् व्रतके न होनेसे इस लोक और परलोकमें सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनोंका नाश होता है, निन्दा होती है, और पाप उत्पन्न होता है, जिससे दुःख मिलता है।

मुनिको उचित है कि संसारसे भयभीत रहने और वैराग्य स्थिर रखनेके वास्ते संसार और कायाके स्वभावको भी चिंतवन

करते रहें।

चार भावनाएँ।

इसके अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ, इन चार भावनाओंको भी मुनिको निरन्तर चिंतवन करनी चाहिये।

मैत्री-सर्वसाधारण जीवोंसे मित्रता रखना, सबका भला चिंतवन करना।

प्रमोद-जो अपनेसे गुणोंमे अधिक हो उनमे प्रसन्नताका भाव रखना, उनको देखकर प्रसन्न होना-हर्ष मानना।

कारुण्य-दु.खी जीवोंपर करुणा-बुद्धि रखना और उनके दु.ख दूर करनेका परिणाम रखना।

माध्यस्थ-पापी, अविनयी, और क्रूर जीवोंमे माध्यस्थभाव रखना अर्थात् न प्रीति और न द्वेष।

तीन शल्य।

ये पांचों व्रत उससे ही पलते हैं, जिसमें शल्य नही होती हैं। माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। मन, वचन, कायकी क्रियाका एक समान न होना अर्थात् मनमे कुछ, वचनमे कुछ, और कायकी क्रिया कुछ, अर्थात् कपटको माया-शल्य कहते हैं। तत्वार्थ-श्रद्धानका न होना मिथ्या-शल्य है। आगामीके वास्ते संसारके किसी प्रकारके सुखकी वांछा रखना निदान-शल्य है।

इस प्रकार मोटेरूप मुनिके चारित्रका वर्णन किया।

श्रावक-धर्म।

पंचम गुणस्थानी श्रावकके ११ भेद हैं, जिनको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। परन्तु श्रावक-धर्मके ११ भेद न करके समुच्चय-रूप इनके चारित्रका इस प्रकार कथन है।

अहिंसा आदि पांच व्रतोंका अणु-रूप अर्थात् थोड़ा एक देश पालना श्रावकका चारित्र है। वे अणुव्रत इस प्रकार हैं।

अहिसा-स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी न होकर त्रस जीवों-

की हिंसाका त्याग करना।

सत्य-स्नेह, वैर, मोह आदिके वश झूठ बोलनेका त्याग करना।

अचौर्य-राज-आज्ञाके विरुद्ध पराई वस्तुके ग्रहणका त्याग वा जिससे किसी जीवको पीड़ा होती हो ऐसी पराई वस्तुके ग्रहणका त्याग।

ब्रह्मचर्य-अपनी विवाहिता स्त्रीके अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियोंसे काम-भावका त्याग।

अपरिग्रह-सांसारिक वस्तुओंका परिमाण करना कि इतनीसे अधिक नहीं रक्खेंगे। इस ही कारण इसको परिग्रह-परिमाण-व्रत भी कहते हैं।

इन पांचो व्रतोंके पृथक २ पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। यद्यपि अतीचारके होते हुए भी व्रत होता है, परन्तु निर्दोष नहीं होता है। अतीचारोंके टालनेसे व्रत निर्दोष हो जाता है।

अहिंसा अणुव्रतके अतीचार-१ बंधन अर्थात् पशु आदि जीवका बांधना वा पिंजरेमें बंद करना। २ वध अर्थात् लाठी, चाबुक आदिसे जीवको मारना। ३ छेदन अर्थात् जीवका कान आदि काटना वा वींधना। ४ अतिभारारोपण अर्थात् किसी जीवपर अधिक बोझ लादना। ५ अन्नपान-निरोध अर्थात् किसी जीवको भूखा-प्यासा रखना।

सत्य अणुव्रतके अतीचार-१ मिथ्या उपदेश अर्थात् जीवके अहितका उपदेश देना। २ रहोभ्याख्यान अर्थात् स्त्री पुरुषकी गुप्त वार्ता वा गुप्त आचरणको प्रगट कर देना। ३ कूटलेखक्रिया अर्थात् झूठी बात लिखना, जालसाजी करना। ४ न्यासापहार अर्थात् धरोहरके सम्बन्धमें असली बात प्रगट न करना। जैसे किसीने ५००) धरोहर रक्खे। परन्तु बहुत दिन पीछे जब वह लेने आया तब उसको यह ही याद रहा कि मैंने ४००) रक्खे थे और चार सौ ही मांगने लगा। परन्तु जिसके पास रक्खे थे उसको मालूम

है कि ५००) रख गया था तौभी उसके ४००) मांगने पर चार सौ ही दे देना और उसकी भूल प्रगट न करना । यह न्यासापहार नामक अतीचार है । ५ साकारमंत्रभेद अर्थात् किसीकी चेष्टासे उसके मनकी गुप्त बात जान कर प्रगट कर देना ।

अचौर्य्य अणुव्रतके अतीचार—१ स्तेनप्रयोग अर्थात् चोरी करनेकी विधि बताना । २ चौरार्थदान अर्थात् चोरीकी वस्तु लेना। ३ विरुद्धराज्यातिक्रम अर्थात् राज-आज्ञाके विरुद्ध क्रिया करना। ४ हीनाधिकमानोनमान अर्थात् माप, तौल आदिके बॉट आदि कमती, बढ़ती रखना। ५ प्रतिरूपकव्यवहार अर्थात् बहुमूल्यकी वस्तुमें घटिया वस्तु मिलाकर बढ़िया वस्तुमे चलाना । जैसे दूधमें पानी मिलाकर असलीके तौर पर बेचना ।

ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार—१ परविवाहकरण अर्थात् दूसरेके बेटा बेटीका विवाह करना वा करा देना । २ परिगृहीतेत्वरिकागमन अर्थात् दूसरेकी विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्रीके पास जाना आना और उससे व्यवहार रखना । ३ अपरिगृहीतेत्वरिकागमन अर्थात् बिना पतिवाली याने गणिका स्त्रीके पास जाना आना, उससे वार्तालाप वा किसी प्रकारका व्यवहार रखना । ४ अनंगक्रीड़ा अर्थात् काम-सेवनके अंगोको छोड़कर अन्य अंगोसे काम-क्रीड़ा करना । ५ कामतीव्राभिनिवेश अर्थात् काम-सेवनमे अत्यंत अभिलाषा रखना, चाहे अपनी ही स्त्रीके साथ हो ।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके अतीचार—१ खेत, मकान आदि; २ रुपया, पैसा, सोना, चांदी आदि, ३ गौ, बैल, अनाज आदि; ४ नौकर, चाकर, चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष, और ५ वस्त्र, वर्तन आदि, इन पांच प्रकारकी वस्तुओमे परिमाणका उल्लंघन करना ।

पांच अणुव्रत धारण करनेके पश्चात् उन व्रतोको बढ़ाने अर्थात् चारित्रमे उन्नति करनेके वास्ते तीन गुणव्रत हैं—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरति । इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

दिग्विरति–लोभ, आरंभ आदिको कम करनेके अभिप्रायसे यावज्जीव इस बातका नियम करना कि अमुक प्रसिद्ध नदी वा ग्राम वा पर्वतादिसे बाहर नही जाऊंगा । इस व्रतका अभिप्राय यह है कि बांधी हुई सीमासे बाहर किसी भी प्रकारकी क्रिया करनेका विचार न हो ।

देशविरति–कुछ नियमित समयके वास्ते इस बातका नियम करना कि दिग्विरतिमें जो क्षेत्र नियत किया है उसके अंदर भी अमुक नगर ग्राम वा मुहल्ले तक जाऊँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा ।

अनर्थदडविरति–ऐसे पापके कार्योंका त्याग करना जिससे अपना कोई अर्थ सिद्ध न होता हो । ऐसे व्यर्थ पाप पांच प्रकारके हैं–१ पापोपदेश, २ हिंसादान, ३ अपध्यान, ४ दुःश्रुति, और ५ प्रमादचर्या । ऐसे सांसारिक कार्यके करनेका उपदेश देना जिसमे स्थावर वा त्रस जीवोकी हिसा होती हो और अपना कोई कार्य सिद्ध न होता हो, यह पापोपदेश है । हिंसाके औजार फावड़ा, कुदाल, साँकल, चाबुक, पीजरा, चूहेदान आदि दूसरेको देना हिंसादान है । यदि इस प्रकारकी वस्तु अपने किसी कार्यके वास्ते रखना आवश्यक हो तो रक्खो, परन्तु दूसरेको दान करना तो व्यर्थ ही पाप कमाना है । अन्य जीवोंके दोष ग्रहण करनेके भाव, अन्यका धन ग्रहण करनेकी इच्छा, अन्यकी स्त्री देखनेकी इच्छा, मनुष्य वा तिर्यंचोकी लडाई देखनेके भाव, अन्यकी स्त्री, पुत्र, धन, आजीविका आदि नष्ट होनेकी चाह, परका अपमान अपवाद होनेकी चाह, आदि अपध्यान हैं । इनसे कोई कार्य तो सिद्ध होता नहीं, व्यर्थका पाप बंधता है । राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि उत्पन्न करने वाली पुस्तक पढ़ना, किस्सा सुनना दुःश्रुति है । विना प्रयोजन जल खिंड़ाना, अग्नि जलाना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना और इस ही प्रकारका अन्य कोई कार्य करना जिसमें हिंसा होती हो, वा बिना सावधानीके व्यर्थ इस प्रकार

प्रवर्तना जिससे जीव-हिंसा हो, प्रमादचर्या है।

इन तीनों गुणव्रतोके भी पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं।

दिग्विरतिके अतीचार–१ ऊर्द्धातिक्रम अर्थात् ऊंचाई पर जानेकी जितनी मर्यादा वांधी हो, उससे अधिक ऊपर वृक्ष पर्वतादि पर चढ़ना। २ अधोऽतिक्रम अर्थात् नीचाईका जितना परिमाण किया हो उससे अधिक नीचा कूपादिमे जाना। ३ तिर्यगतिक्रम अर्थात् टेढ़ा जाकर मर्यादासे वाहर चले जाना। ४ क्षेत्रवृद्धि अर्थात् परिमाणित क्षेत्रको वढ़ाना। ५ स्मृत्यंतराधान अर्थात् दिशाओकी वांधी हुई मर्यादाको भूल जाना।

देशविरतिके अतीचार–१ मर्यादा वाहरके क्षेत्रसे किसी चेतन वा अचेतन वस्तुको मंगाना वा वुलाना। २ मर्यादासे वाहर आपने तो जाना नही, परन्तु अपने किसी सेवकादिको भेजना। ३ मर्यादासे वाहर शब्द पहुंचाना अर्थात् खांसी, खंखारनेका शब्द करके वा टेलीफोन वा तारके द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना। ४ मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमे हाथ पैर आदिका कोई इशारा करके काम कराना। ५ कंकरी आदि फेककर मर्यादाके वाहर क्षेत्रमें इशारा पहुंचाना।

अनर्थदण्डत्यागव्रतके अतीचार–१ हास्यको लिये हुए भण्डवचन वोलना। २ कायसे भंड क्रिया करना। ३ व्यर्थ वकवाद करना। ४ प्रयोजनका विचार न करके अधिकतासे प्रवर्तन करना। ५ जरूरतसे ज्यादा भोग उपभोगकी सामिग्री इकट्ठी करना।

इस प्रकार गुणव्रतोंके द्वारा अणुव्रतोको वढ़ाकर फिर शिक्षाव्रत ग्रहण करने चाहिये, जिससे चारित्रमे अधिक उन्नति हो। जिन व्रतोंसे मुनिधर्मकी शिक्षा प्राप्त होती है अर्थात् मुनिधर्मका अभ्यास होता है उनको शिक्षाव्रत कहते है। शिक्षाव्रत चार हैं–सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण, और अतिथि-संविभाग। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

सामायिक–समस्त पाप क्रियाओसे रहित होकर सबसे राग-द्वेष छोड साम्यभावको प्राप्त होकर आत्मस्वरूपमें लीन होना।

प्रोषधोपवास–प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको पहले दिनके दोपहरसे लगाकर अगले अर्थात् पारनेके दिनके दोपहर तक १६ पहर समस्त आरम्भ छोडकर विषय, कषाय और समस्त प्रकारके आहारको त्याग कर धर्म-सेवनमे व्यतीत करना।

उपभोग-परिभोग-विरति–उपभोग और परिभोगकी वस्तुओकी मर्यादा करके बाकी सबका त्याग करना। जो एक बार भोगनेमें आवे वह भोग और जो बार बार भोगनेमे आवे वह परिभोग है।

अतिथि-सविभाग–महाव्रती मुनि वा अणुव्रती श्रावकके अर्थ शुद्ध मनसे आहार दान करना।

इन चार शिक्षाव्रतोंके भी पाच २ अतीचार वर्णन किये गये है, जो इस प्रकार हैं —

सामायिकके अतीचार–१ मनको, २ वचनको, वा ३ काया को अन्यथा चलायमान होने देना। ४ उत्साह-रहित अनादरसे सामायिक करना। और ५ सामायिक करते हुए चित्तकी चंचलतामे पाठ भूल जाना।

प्रोषधोपवासके अतीचार–१ विना देखी, बिना शोधी भूमिपर मल, मूत्र, कफ आदि डालना। २ विना देखे विना शोधे उपकरणका उठाना वा रखना। ३ विना देखी विना शोधी भूमिपर साथरा आदि बिछाना। ४ धर्मक्रियामें उत्साह-रहित प्रवर्तना। और ५ आवश्यकीय धर्म-क्रियाओको भूल जाना।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रतके अतीचार–१ सचित्त अर्थात् ऐसे फलादिका आहार करना जिनमे जीव हो। २ सचित्त वस्तुसे स्पर्श की हुई वस्तुका आहार करना। ३ सचित्त मिली हुई वस्तुका आहार करना। ४ पुष्टि-कारक वस्तुका आहार करना। ५ भले प्रकार न पकी हुई तथा देरसे हजम होने वाली वस्तुका आहार करना।

अतिथि-संविभाग व्रतके अतीचार–१ सचित्त वस्तुमें अर्थात् हरे कमलपत्र आदिमे रखकर आहार देना। २ सचित्तसे ढके हुए आहार औषधिका देना। ३ दूसरेकी वस्तुका दान करना। ४ अनादरसे वा ईर्षाभावसे दान देना। ५ योग्य समयको टालकर आहार देना।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये सात शील कहलाते हैं अर्थात् अणुव्रतोकी रक्षा वा वृद्धि करने वाले है।

श्रावकको इन १२ व्रतोंके अतिरिक्त ये छह कर्म प्रतिदिन करते रहना चाहिये, जो षट् आवश्यक कर्म कहलाते है–पूजा, उपासना, दान, स्वाध्याय, तप और संयम।

पूजा–भक्ति करने, आदर और बड़ाई माननेको पूजा कहते हैं। अपनेमे वैराग्य भाव उत्पन्न करनेके वास्ते वीतरागियोकी और उन कारणोकी, जिनसे वीतरागता प्राप्त होती है, भक्ति करना।

उपासना–निकट जाने, पास बैठनेको उपासना कहते हैं। साधु और धर्मात्मा पुरुषोके पास जाना और पास जाना न हो तो उनके गुणोका चिंतवन करना।

दान–देनेका नाम दान नहीं है। किसी भयसे वा लोकाचारसे वा अपने किसी सांसारिक प्रयोजनके अर्थ देना दान नही है। दान वह है जो करुणा उत्पन्न होनेपर किसीके दुख दूर करनेको वा ज्ञान और धर्मकी वृद्धिके अर्थ दिया जावे, जिससे अपनेको भी पुण्य-बंध हो और दूसरेका भी हित सधता हो।

स्वाध्याय–श्री जैनशास्त्रोंका पढ़ना, पढ़ाना, चर्चा-वार्ता करना।

तप–इद्रियोको वश करने और कषायोको मंद करनेके अर्थ किसी प्रकारका कष्ट उठाना तप है।

संयम–पापोसे बचनेके वास्ते अपनी क्रियाओका प्रवन्ध करना अर्थात् नियम बांधना संयम है।

श्रावकका यह भी धर्म है कि जब मृत्युका निश्चय हो जावे तो

धर्मध्यानके साथ प्राणोंका त्याग करे। इसको सन्यासमरण वा समाधिमरण वा सल्लेखना कहते हैं। आहिस्ता २ सब प्रकारकी क्रिया, चिंता और खाना-पीना आदिको छोड़ कर आत्मध्यानमें लग जाना इसका उपाय है।

सन्यासमरणके भी पांच अतीचार वर्णन किये गये हैं—१ जीनेकी इच्छा करना। २ शीघ्र मरनेकी इच्छा करना। ३ अपने मित्रोंमे अनुराग रखना और उनको याद करना। ४ पूर्व भोगोको चिंतवन करना। ५ आगामीके भोगोंकी वाछा रखना।

इस प्रकार समुच्चयरूप श्रावक-धर्मका वर्णन किया गया। अब इसके भेदोंका वर्णन करते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि चौथे गुणस्थानी-सम्यग्दृष्टिमे चारित्र विलकुल नहीं होता है। एक तो श्रावकका यह दर्जा है। इसमे भी यद्यपि कोई चारित्र नहीं है, परन्तु मांसका भोजन तो इस दर्जे वाला भी नहीं करता है, और मदिरा, शहद, और वड़, पीपल, पीलू आदि पांच उदम्बर फल, जिनमें साक्षात् त्रस जीवोंका घात होता है और त्रस जीव दिखाई देते हैं, नहीं खाता है। अर्थात् उपर्युक्त आठ चीजोंका त्यागी तो वह जरूर ही होता है। ये ही श्रावकके आठ मूलगुण हैं। इन आठ वस्तुओके त्यागके विना कोई जैनी अर्थात् पाक्षिक श्रावक ही नहीं कहला सकता है।

पंचम गुणस्थानी श्रावकके, जिसको देशव्रती कहते है, ११ दर्जे हैं, जो ११ प्रतिमा कहाती हैं। उन्नति करते हुए एकसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी, इस प्रकार ग्यारह प्रतिमा तक चढ़ना होता है। और इनसे भी ऊपर चढ़कर साधु होता है। अगली २ प्रतिमाओंमें पूर्व २ की प्रतिमाओंकी क्रियाका होना तो जरूरी ही है।

१ दर्शन प्रतिमा—सम्यग्दर्शन-सहित मद्य मांसादिकका त्यागरूप अष्ट मूलगुणका निरतिचार पालने वाला दार्शनिक अर्थात् पहली प्रतिमाका धारी कहलाता है। इस प्रतिमामे जूआ खेलना,

मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्या-गमन, शिकार खेलना, चोरी करना और पर-स्त्री सेवन करना, इन सात कुव्यसनोंका भी त्याग होता है।

२ व्रत प्रतिमा—१२ व्रतोंका धरना। अर्थात् जब दार्शनिक १२ व्रतोंका पालन करता है तब वह व्रती कहलाता है। पांच अणुव्रत और सात शील अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत हैं।

३ सामायिक प्रतिमा—प्रभात काल, मध्याह्न काल और अपराह्न काल अर्थात् सुबह, दोपहर और शामको छह छह घड़ी विधि-पूर्वक सामायिक करना।

४ प्रोषध प्रतिमा—महीनेके चारों पर्व दिनोंमें अर्थात् प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशीको १६ पहरका उपवास करना।

५ सचित्त-त्याग प्रतिमा—हरी वनस्पति अर्थात् कच्चे फल, फूल, बीज आदि न खाना।

६ रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा—रात्रिको सर्व प्रकारके आहारका त्यागना।

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा—अपनी पराई किसी भी प्रकारकी स्त्रीसे भोग न करना।

८ आरम्भ-विरति प्रतिमा—गृह-कार्य सम्बन्धी सर्व प्रकारकी क्रियाओंका त्याग करना और दूसरोंसे भी आरम्भ नहीं कराना।

९ परिग्रह-त्याग प्रतिमा—सर्व प्रकारके बाह्य परिग्रहसे ममताको त्याग कर सन्तोष धारण करना।

१० अनुमोदन-विरति प्रतिमा—अन्य गृहस्थोंके सांसारिक कार्योंकी अनुमोदना भी न करना। जो कोई भोजनको बुलावे उसके यहां भोजन कर आवे, परन्तु यह न कहे कि मेरे वास्ते अमुक वस्तु बनाओ।

११ उद्दिष्ट-विरति प्रतिमा—घर छोड़ वन तथा मठ आदिमें

तपश्चरण करते हुए रहना, भिक्षा भोजन करना और खण्ड वस्त्र धारण करना । इस प्रतिमाके धारीके दो भेद हैं-१ क्षुल्लक और २ ऐलक । पहले दर्जे वाले अर्थात् क्षुल्लक अपनी डाढ़ी आदिके केश उस्तरा वा कैंचीसे कटवाते हैं, लंगोटी और उसके साथ चादर या दुपट्टा धारण करते हैं, तथा वैठ कर अपने हाथमे वा किसी पात्रमें भोजन करते हैं । और इससे ऊंचे दर्जेवाले अर्थात् ऐलक केशोका लोच करते हैं, केवल लंगोटी धारण करते हैं, मुनिके सदृश हाथमें पिच्छिका रखते हैं, और अपने हाथमें ही भोजन करते हैं-किसी वरतनमें नहीं करते ।

इस प्रकार पंचम गुणस्थानी श्रावकके ११ दर्जे हैं, और चौथे गुणस्थानी सम्यक्तीको मिलाकर १२ दर्जे होते हैं ।

इनका विस्तारपूर्वक वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थोसे जानना ।

वहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्त ॥ ४६ ॥

अर्थ-संसारके कारणोंको नष्ट करनेके वास्ते ज्ञानी जीवोंका अन्तरङ्ग और वाह्य क्रियाओंका निरोध करना, श्रीजिनेन्द्रने उत्कृष्ट सम्यग्चारित्र कहा है ।

भावार्थ-पूर्व गाथामे जो चारित्र वर्णन किया गया है वह व्यवहार-चारित्र है अर्थात् असली चारित्रका कारण है । वास्तविक चारित्र समस्त क्रियाओंको रोककर अपनी आत्मामे ही मग्न हो जाना है । इस ही चारित्रसे संसार-भ्रमण नष्ट होता है अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है । ज्ञानी जनोंको इस ही चारित्रकी प्राप्तिकी कोशिश करनी चाहिये ।

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

अर्थ-ध्यानके करनेसे ही मुनि नियम-रूप निश्चय और

व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त होता है । इस हेतु, हे भव्य जीवो ! तुम चित्तको एकाग्र करके ध्यानका अभ्यास करो ।

भावार्थ–ध्यानसे ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है । चित्तको एकाग्र करना अर्थात् एक तरफ लगाना ध्यान है । ध्यानका अभ्यास मोक्षके अभिलाषीको अवश्य करना चाहिये ।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठानिट्ठअत्थेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

अर्थ–यदि तुम नाना प्रकारके ध्यान तथा निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धिके वास्ते चित्तको स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्टरूप जो इंद्रियोंके विषय हैं उनमें राग, द्वेष और मोहको मत करो ।

भावार्थ–ध्यान चार प्रकारका है–आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

आर्तध्यान–इसके चार भेद हैं:—

अनिष्टयोगज–अनिष्ट अर्थात् अप्रिय और दुःखदाई वस्तुका संयोग होनेपर उसके दूर होनेके लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

इष्टवियोगज–इष्ट अर्थात् प्रिय और सुखकारी वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

वेदना जनित–रोग-जनित पीड़ाका चिन्तवन करना अर्थात रोग होजाने पर सोच करना, अधीर होना आदि ।

निदान–आगामी विषयभोग आदिकी बांछा करना और उसीके विचारमे लीन हो जाना ।

इन चार प्रकारके आर्त्तध्यानमे पहले तीन प्रकारके आर्त्तध्यान तो १ ले, २ रे, ३ रे, ४ थे, ५ वे, और ६ ठे गुणस्थान तक हो सकते हैं; परन्तु निदान आर्त्तध्यान छठे गुणस्थानमे नही हो सकता है । पांच गुणस्थान तक ही हो सकता है । आर्त्तध्यान खोटा ध्यान है, इसको नहीं करना चाहिये ।

रौद्रध्यान–इसके भी चार भेद हैं:—

हिंसानन्द–हिंसा करके आनंद मानना और हिंसाका चिंतवन करते रहना।

मृषानन्द–झूठ बोलनेमे आनंद मानना और झूठका चिंतवन करते रहना।

स्तेयानन्द–चोरीमे आनंद मानना और उसीका चिंतवन करते रहना।

परिग्रहानन्द–परिग्रह और अपनी विषय-सामिग्रीकी रक्षा करनेमे आनंद मानना और उसीकी चिन्तामें लगे रहना।

रौद्रध्यान–१ ले, २ रे, ३ रे, ४ थे, और ५ वे गुणस्थान तक हो सकता है। यह ध्यान आर्त्तध्यानसे भी अधिक खोटा है।

धर्मध्यान–यह भी चार प्रकारका है:—

आज्ञाविचय–आगमकी प्रमाणतासे अर्थात् श्रीजिनवाणीके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको चिंतवन करना।

अपायविचय–इस बातका चिंतवन करना कि संसारके जीव सच्चे धर्मसे अज्ञानी और अश्रद्धानी होकर संसारमें ही घूमनेका यत्न कर रहे हैं, किस विधिसे ये प्राणी खोटे मार्गसे फिरें और किस विधिसे जैनधर्मका प्रचार संसारके सब जीवोमें होकर धर्मकी प्रवृत्ति हो, इत्यादि सन्मार्गके प्रचारका चितवन करना।

विपाकविचय–पापकर्मोंसे दुख और पुण्य कर्मोंसे सांसारिक सुख और दोनोंके अभावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म-फलको चिन्तवन करना।

संस्थानविचय–लोकके स्वरूप और द्रव्योंके स्वभावको चिंतवन करना।

धर्मध्यान पुण्य-बन्धका कारण है और परम्परासे मोक्षका भी हेतु है। यह ध्यान चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थानमें ही होता है।

शुक्लध्यान—यह भी चार प्रकारका है:—

पृथक्त्ववितर्कविचार—द्रव्य, गुण, पर्याय, इनका जो जुदापना है उसको पृथक्त्व कहते है । श्रुतज्ञान तथा निज शुद्ध आत्माका अनुभवरूप भावश्रुत अथवा निज शुद्ध आत्माको कहने वाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्मशब्दकल्पना) है वह वितर्क कहलाता है। विना इच्छा किये अपने आप ही एक अर्थसे दूसरे अर्थमे, एक वचनसे दूसरे वचनमे, और मन, वचन, काय, इन तीनों योगोमें एक योगसे दूसरे योगमें जो परिणमन (परिवर्त्तन) होता है उसको विचार कहते है । भावार्थ यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्माके ज्ञानको छोड़कर वाह्य पदार्थोंकी चिता नही करता अर्थात् निज आतमाका ही ध्यान करता है । तथापि जितने अंशोमे उस पुरुषके अपनी आत्मामे स्थिरता नही है उतने अंशोमे विना इच्छा किये विकल्प उत्पन्न होता है। इस कारण इस ध्यानको पृथक्त्ववितर्कविचार कहते हैं। तर्क करना, विचारना अर्थात् श्रुतज्ञान वितर्क है। परिवर्त्तनको विचार कहते हैं। यह ध्यान ८ वे, ९ वे, १० वे और ११ वे गुणस्थानमे ही होता है, और श्रुतकेवलीको ही होता है।

एकत्ववितर्क—यह ध्यान तीनो योगमेसे किसी एक योगवाले को होता है, और बारहवे गुणस्थानमे श्रुतकेवलीको ही होता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति—यह ध्यान काययोग वालोको होता है और तेरहवे गुणस्थानमे अर्थात् सयोगी केवली-भगवानको ही होता है।

व्युपरतक्रियानिवर्त्ति—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थानमे अर्थात् अयोगी केवली भगवानको होता है।

पणतीस सोल छप्पण चदुदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४९ ॥

अर्थ–परमेष्ठी वाचक जो ३५, १६, ६, ५, ४, २, और १ अक्षरके मंत्र पद हैं उनका जाप्य और ध्यान करो। इनके सिवाय अन्य जो मंत्र पद हैं उनको भी गुरुके उपदेशके अनुसार जपो और ध्याओ।

भावार्थ–अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ये पांच परमेष्ठी है–परम इष्ट हैं। इनके ध्यान करनेसे भावोंकी शुद्धि और वैराग्यकी उत्पत्ति होती है।

३५ अक्षरका मंत्र–णमो अरहताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।

१६ अक्षरका मन्त्र–अरहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू। अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नम'।

६ अक्षरका मंत्र–अरहंत सिद्ध, अथवा 'नमोऽर्हात्सिद्धेभ्य'।

५ अक्षरका मंत्र–असिआउसा। अर्थात् पाचो परमेष्ठीके प्रथम अक्षर।

४ अक्षरका मंत्र–अरहत।

२ अक्षरका मंत्र–सिद्ध।

१ अक्षरका मन्त्र–'अ' अथवा 'ॐ'।

अरहंतका प्रथम अक्षर 'अ', सिद्धको अशरीरी भी कहते है अतएव इसका भी प्रथम 'अ', आचार्यका प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्यायका प्रथम अक्षर 'उ', और मुनिका प्रथम अक्षर 'म्', इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म् इन पांचो अक्षरोकी सधि होकर 'ओम्' शब्द वन जाता है।

णट्ठ चदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो॥५०॥

अर्थ–चार घातिया कर्मोंको नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, और अनन्त वीर्यका

धारक, उत्तम देहमें विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरहंत है। उसका ध्यान करना उचित है।

भावार्थ—तेरहवे गुणस्थान वाले सयोगि केवली-भगवानको अरहंत कहते हैं। आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी, और अंतराय, ये चार घातिया कर्म है। क्योंकि ये जीवके शुद्ध स्वभावको भ्रष्ट करते हैं। श्रीअरहंत भगवानके ये चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं, और इन्हींके नाश होनेसे दर्शन, ज्ञान, सुख, और वीर्य, ये चार गुण प्रगट होते हैं। श्रीअरहंत भगवानके वेदनी, आयु, नाम, और गोत्र, ये चार कर्म अभी बाकी रहते हैं, इसी कारण श्रीअरहंत भगवान देहधारी होते हैं।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसका अष्ट कर्मरूपी देह नष्ट होगया है, जो लोक अलोकको जानने देखने वाला पुरुषाकारका धारक और लोक-शिखरपर विराजमान है वह आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। उसका ध्यान करो।

भावार्थ—श्रीअरहंत भगवान तेरहवें गुणस्थानसे चौदहवे गुणस्थानमें जाकर चौदहवे गुणस्थानके अंतमे सर्व कर्मोंका नाश कर देते हैं—कोई भी कर्म बाकी नही रहता है। कर्मोंके समूहको कार्माणशरीर कहते है। सर्व कर्मोंके नाश होनेसे कार्माणशरीर भी उनके नही रहता है, और भी किसी प्रकारका शरीर नही रहता है। अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान प्राप्त होनेसे तेरहवें गुणस्थानमें ही अर्थात् अरहंत अवस्थामें ही सर्वज्ञ होकर वह लोक और अलोककी सर्व वस्तुको जानने लगे थे। सर्व कर्मोंका नाश करके अर्थात् मुक्ति पाकर जिस देहसे मुक्ति हुई है उस देहके आकारको लिये हुए ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अंत तक

ऊपर जाते हैं। आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण गमन नहीं है इस हेतु लोक-शिखरपर ठहर जाते है। वे सिद्ध भगवान हैं और ध्यान करनेके योग्य हैं।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी ज्झेओ॥५२॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र, और तप, इन पांच आचारोंमें जो आप स्वयं भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्योंको भी लगाते हैं वे आचार्य ध्यान करनेके योग्य हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनमें परिणमन करना दर्शनाचार है। सम्यग्ज्ञानमें लगना ज्ञानाचार है। वीतराग चारित्रमें लगना चारित्राचार है। तपमें लगना तपाचार है। इन चारो आचारोंके करनेमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना वीर्याचार है। इन आचारोको जो आप स्वयं पालते हैं और अपने शिष्योको इन आचारोंमें लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं, और ध्यान करनेके योग्य हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

अर्थ—जो रत्नत्रयसहित है, निरन्तर धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर है वह आत्मा मुनीश्वरोंमें प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है। उसको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, ये तीन रत्न है और रत्नत्रय कहलाते हैं। जो रत्नत्रयके धारी हैं और सदा धर्मका उपदेश देते हैं अर्थात् मुनियोंको पढ़ाते हैं वे उपाध्याय हैं और ध्यान करनेके योग्य हैं। उनको मेरा नमस्कार होवे।

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥

अर्थ—जो दर्शन और ज्ञानमें पूर्ण हैं, मोक्षमार्ग रूप शुद्ध चारित्रको प्रकट रूपसे साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं। उनको मेरा नमस्कार हो।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र कार्यकारी नहीं है। जो चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक है वही मोक्षका कारण है। ऐसे मोक्षके कारणभूत और सदा शुद्ध अर्थात् राग-द्वेषादि-रहित चारित्रको जो मुनि साधन करते है वे साधु परमेष्ठी हैं और ध्यान करनेके योग्य है। ग्रंथकर्त्ता श्रीनेमिचंद्राचार्य कहते हैं कि ऐसे साधु परमेष्ठीको मेरा नमस्कार होवे।

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं॥ ५५॥

अर्थ—ध्येय पदार्थमें एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थको ध्यावता हुआ साधु जय निस्पृह वृत्ति अर्थात् सर्व प्रकारकी इच्छाओंसे रहित होता है उस समय उसका वह ध्यान निश्चय ध्यान होता है। ऐसा आचार्य कहते हैं।

भावार्थ—निस्पृह अर्थात् सब प्रकारकी इच्छाओसे रहित होकर किसी वस्तुके ध्यान करनेको निश्चय ध्यान कहते हैं।

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंचि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं॥ ५६॥

अर्थ—हे ज्ञानी पुरुषो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो, जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आपमें तल्लीन होकर स्थिर हो जावे। यह आत्मामें तल्लीन होना ही परम ध्यान है।

भावार्थ—मन, वचन और कायकी क्रियाको रोकनेसे शुद्ध

आत्मध्यान होता है । अपनी आत्मामें लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है । पंच परमेष्ठीका ध्यान करना तो ध्यानका अभ्यास करने और वैराग्यकी उत्पत्तिके अर्थ है । पंच परमेष्ठीका ध्यान शुभ ध्यान है, पुण्यबंधका कारण है, परन्तु शुद्धध्यान नहीं है, किन्तु शुद्धध्यान तक पहुंचनेका मार्ग है । और क्रमसे उन्नति कर पंच परमेष्ठीके ध्यानको छोड कर अपनी आत्मामे ही लीन होना परमध्यान है, जो साक्षात् मोक्षका कारण है । सर्व प्रकारके संकल्प विकल्पोंको दूर करके आत्माको स्थिर करना ही अपनी आत्मामें तल्लीन होना है । यह स्थिरता मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोकनेसे ही प्राप्त होती है ।

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ ५७ ॥

अर्थ—तप, श्रुत और व्रतका धारक जो आत्मा है वह ही ध्यानरूपी रथकी धुरीको धारण करने वाला होता है । इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यानकी प्राप्तिके अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत, इन तीनोंमें तत्पर रहो ।

भावार्थ—तप करने वाला, शास्त्रका अभ्यास करने वाला और व्रत पालने वाला ही शुभ वा शुद्ध ध्यानको कर सक्ता है । इस हेतु ध्यान करनेके अर्थ सदा ही तप करना, शास्त्र पढना और व्रत करना उचित है ।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं॥५८॥

अर्थ—अल्पज्ञानके धारक मुझ नेमिचन्द्रमुनिने जो यह द्रव्य-संग्रह कहा है इसको निर्दोष और पूर्णज्ञानी आचार्य शुद्ध करें ।

भावार्थ-यद्यपि श्रीनेमिचन्द्र आचार्य, जो इस द्रव्य-संग्रह ग्रन्थके कर्त्ता हैं, सिद्धान्त-चक्रवर्ति और एक बड़े भारी विद्वान् महर्षि हुए हैं; तथापि वह अपनी लघुता प्रगट करते हुए उन श्रीआचार्योंसे, जो तत्वके जाननेमे संशयादि दोषो कर रहित हैं और पूर्णज्ञानी हैं, प्रार्थना करते हैं कि यदि इस ग्रन्थमे कही भूल चूक हो तो शुद्ध कर देवे । सच है जो अधिक विद्वान् और सज्जन तथा गुणी होते हैं उनकी ऐसी ही रीति है । वे कदापि अपने ज्ञानका घमण्ड नही करते है ।

इति तृतीयोऽधिकारः ।

इति श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्त्ति-विरचितो

द्रव्यसंग्रहः समाप्तः ।

वीतरागाय नमः ।

आगरानिवासी स्वर्गीय कविवर द्यानतरायजी विरचित-

भाषा[1] द्रव्यसंग्रह ।

अडिल्ल छंद ।

रिषभनाथ जगनाथ सुगुनमनिखान हैं ।
देवइंद्रनरवृंदवंद सुखदान हैं ॥
मूल जीव निर्जीव दरव षटविधि कहे ।
वंदौं सीस नवाय सदा हम सरदहे ॥ १ ॥
[2]भौम इंद्र बत्तीस भवन चालीस हैं ।
रवि ससि चक्री सिंह सुरग चौबीस हैं ॥
सत इंद्रनिकरि बन्दनीक अरहंत हैं ।
वंदौं चौबीसौं जिनराज महंत हैं ॥ २ ॥

सवैया मत्तगयन्द ।

जीव सदा उपयोगमई, निरमूरत भावनिकौ करता है ।
देह प्रवांन कह्यौ भुगता, भववास बसै सिवको भरता है ॥
ऊरध चाल सुभाव विराजत, नौ अधिकारनिकौ धरता है ।
सो सब भेद बखान करौ[3], सरधान धरौ भ्रमकौ हरता है ॥३॥

कवित्त इकतीसा (मनहर) ।

इंद्री पांच बल तीन स्वास आव दस प्रान, मूल चार इंद्री बल स्वास आव मानियै । पूरव जीवै था अब जीवै आगैं जीवहिगा, एई प्रानसेती विवहार जीव जानियै ॥ सुख सत्ता बोध और चेतन है निहचै प्रान, सासतौ[4] स्वभाव तीन कालमैं

---

[1] यह प्रत्येक गाथाका शब्दशः अनुवाद नहीं है । भाव लेकर खुलासारूपमें कुछ विस्तारसे रचना की है । [2] यह अनुवाद "भवणालय चालीसा" आदि क्षेपक गाथाका है । [3] किया है । [4] शाश्वत—कभी नाश नहीं होनेवाला ।

वखानियै। विवहार निहचै सरूप जानि सरधाने, ऐसैं जीव वस्तु
लखै सो सुखी पहिचानियै ॥ ४ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

इक उपजोग भेद दो ताके, दरसन ग्यान दरस विधि चार।
चच्छ अचच्छ अवधि अरु केवल, ग्यान कह्यौ है आठ प्रकार।
कुमति कुश्रुत कुअवधि सुमति-श्रुत-अवधि और मनपरजै धार।
केवलग्यान सरवकौ नायक, सो तुझमैं किन आप निहार ॥ ५ ॥

सोरठा।

[1]मति श्रुत परोच्छ दच्छ, मनपरजै अरु अवधि सुभ।
एकदेशपरतच्छ, केवल सकलप्रतच्छ है ॥ ६ ॥

चौपई (५१ मात्रा)।

दरसन चार आठ विध ग्यान। चेतनके लच्छन सामान ॥
नय व्यौहार करमकृत जोग। निहचै सुद्ध सुद्ध उपजोग ॥ ७ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

वरन पंच रस पंच गंध दो, फरस आठकी मूरति होय।
निहचै जीव अमूरति जानौ, बीसमाहिंकौ एक न कोय ॥
करम बँध्यौ व्यौहार मूरती, काला गोरा कहिवत लोय।
नै निहचै व्यौहार समुझिकै, समता गहै विचच्छन सोय ॥ ८ ॥
दरव नोकरम घटपट आदिक, करै जीव व्यौहार बखान।
भाव क्रोध आदिक रागादिक, नय असुद्ध निहचै परधान ॥
निहचै सुद्ध बुद्ध निज गुनमैं, केवलग्यानसरूप सुजान।
स्यादवादसौं सब नय साधैं, अनुभौ निरविकलप सुखखान ॥ ९ ॥

छप्पय।

ज्यौं दीपक परकास, एकसा घट वढ़ नाहीं।
घटै मटकने[2]माहिं, बढ़ै मटके[3]के माहीं ॥

---

[1] यह "मइसुइपरोक्खणाणं" आदि क्षेपक गाथाका अनुवाद है।
[2] मिट्टीके छोटे वर्तनमे। [3] बडे मटकेमें।

त्यौं असंख परदेसवंत, जिह निहचै जानौ।
समुदघात विन तन, प्रवांन व्यौहार वखानौ ॥
लघु काय पाय संकोच है, थूल देह लहि विसतरै
सव प्रानी आप समान हैं, दया करै सो नर तरै ॥१०॥

कवित्त (मनहर)।

मूल देह छूटै नाहि वाहर प्रदेश जाहिं, कह्यो है समुदघात सोई भेद सात है। क्रोधसेती सत्रुनिपै वेदनासौं औषधिपै, सुभासुभ तैजसकौ पूतला विख्यात है ॥ मरनांत गतिमाहि वैंक्री वहु, जीव करै, आहारके साधूनिके संदेह विलात है। केवल समुदघात समैमाहि चेतन ही, कायसेती वाहर निकल आप जात है॥११॥

दोहा।

लोकप्रमान प्रदेससौं, तनप्रमान व्यौहार।
लोक अलोक सुग्यानसौं, सुद्ध आप सम सार ॥१२॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

पुन्य उदैतैं खानपान वहु, पाप उदै तपं सीत अपार।
पुग्गल कर्मवंधतैं प्रानी, सुख दुख भुगता नय व्यौहार ॥
विपय कपाय दया समता निज, भाव भोगता निहचै धार।
सुद्धं ग्यान सुख सिद्ध भोगवै, धरै ध्यान भोगौ सुखसार ॥१३॥

चौपई।

भू जल अगनि पवन तरुकाय। थावर एकेंद्री वहु भाय ॥
लट चैंटी माँखी नर देह। द्वै तैं चौ पनँ त्रस चईं एह ॥१४॥
एकेंद्री सूच्छम अरु थूल। विकलत्रय सव अमैंने मूल ॥
समन अमन पंचेंद्री माहिं। परज अपरज चतुरदस ठाहिं ॥१५॥
चौदै मारगना गुनथान। नय असुद्ध संसारी जान ॥
सव जिय सुद्ध सुद्धनय माहि। आप सुद्ध अनुभौ भौ नाहिं ॥१६॥

---

१ विक्रिया। २ गर्मी—उष्णता। ३ शुद्धनिश्चयनयसे। ४ तेइन्द्री। ५ पांच। ६ चारों। ७ मनरहित—असैनी। ८ ससार—भ्रमण।

कवित्त इकतीसा।

कर्म नास भए सिद्ध सदासिव नाहिं जीव, अष्टगुनमई सिद्ध निगुन न बावरे। अविनासी सिद्ध समै समै मरैं जीवैं नाहि, चले जाहिं नाहिं लोक अंत ठहराव रे। देहसेती कछु हीन चेतन प्रदेस सिद्ध, परसेती भिन्न मिलैं नाही वाव (?) वावरे। भावलहर हो जाहिं सागर ज्यौं थिर सिद्ध, सुन्नता[1] सुभाव नाहि नीकैं मन भाव रे॥ १७॥

प्रकृति प्रदेस दोय बंध जोगसेती होय, थिति अनुभाग बंधकौ कषाय करै है। चारौं बंध नासैं आग जेम चलै ऊरधकौं, बाकी तजि कौन[2] षटदिशाकौं निकरै है॥ वक्रचाल एक दोन तीन समै अनाहार, हाथ हल गऊमूत जैसैं विसतरै है। सूधी चाल एकसमै बाण जेम आहारक, मिथ्यावस जीव मरै सम्यकसौं तरै है॥ १८॥

आडिल्ल।

पुग्गल धर्म अधर्म गगन जम[3] जानियै।
पंच अजीव दरव सब जड़मइ मानियै॥
पुग्गल मूरतवंत वीसगुनसहित है।
चार अमूरति जान जिनागमविहित है॥ १९॥

कवित्त (मनहर)।

धूप छाँह चाँदनी अँधेर सबद आकार, थूल तुच्छ बँधैं खुलै परजाय जानियै। सूच्छम सूच्छम अनु सूच्छम है कारमान, सूच्छमता थूल चार इंद्रीविषै मानियै॥ थूल सूच्छम है धूप छाँह थूल जल घीव, थूल थूल पृथीकाय भेद ए वखानियै। दस परजाय छहौं भेद सब पुग्गलके, न्यारौ आप आपविषै आप हि पिछानियै॥ २०॥

---

[1] शून्यपना। [2] कोण छोड़कर अर्थात् चार विदिशायें छोडकर। [3] कालद्रव्य।

चौपई।

मीन[1] चलै निज[2] जळकौं पाय। जिय-पुग्गल-गति परम सहाय ॥
थिर न चलावै पेरक[3] होय। चलतेकौं सहकारी होय ॥२१॥
जिय[4] पुग्गलको थितसहकार। अधरम दरव कह्यौ गनधार ॥
पंथी बैठै छायामाहिं। चलै तिसै वैठावै नाहिं ॥ २२ ॥

दोहा।

पुन्य[5] पाप दोनौं नहीं, हैं अविनासी वस्त।
तीन लोकमैं भर रहे, ऊपर तलैं समस्त ॥ २३ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

सरब दरवकौं ठौर देत है, दरव अकास सो गुन अवकास।
ताके दोय भेद नित जानौ, लोकाकास अलोकाकास ॥
पुग्गल धर्म अधर्म जीव जम, पंच जहां सो लोकाकास।
पंचदरव विन एक सुंन नभ, सो अलोक ग्यानमें प्रकास ॥२४॥

मनहरण।

एक काल[6]अनूसेती दूजी कालअनू जाय, पुग्गलकी पर[7]मांनू
तहां समै होत है। जलकी कटोरी घरी सूरजसौं दिन होय,
मास रितु वर्ष ऐन[8] आदि दे उदोत है ॥ नई वस्त बोदी[9] करै
परावर्त चाल धरै सोई विवहार काल विनासीक गोत है।
अतीत अनागत वरतमान परजाय, कालानूं दरव लखै जाके उर
जोत है ॥ २५ ॥

---

१ दोहा—जैसे सलिल समूहमैं, करे मीन गतिकर्म।
तैसे पुग्गल जीवको, चलन सहाई धर्म ॥ २२ ॥

२ स्वय। ३ प्रेरक।

४ दोहा—ज्यौं पंथिक ग्रीषम समै, बैठे छायामाहिं।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड़ चेतन ठहराहिं ॥ २३ ॥
—नाटक समयसार।

५ धर्म और अधर्मका अर्थ पुण्य पाप नही है। ये दोनो अविनाशी द्रव्य है।

६ अणुसे। ७ परमाणु। ८ अयन—छहमास। ९ पुरानी।

एक दर्व है आकास ताके अनंते प्रदेस, तामैं लोकाकासके असंख्यात प्रदेस हैं । एक एक देसमाहिं एक एक काल अनू रैनैंरासि[1] जैसें थिर न्यारी विन भेस है ॥ सर्व दर्व परनति सहाय निहचै काल, असंख्यात सत्ता अविनासी अकलेस है । एक ठौर धर्‍यौ डंड चाक[2] फीरैं हैं अखंड, त्यौं अलोककौं सहाय काल ही असेस है ॥ २६ ॥

चौपई ।

जीव दरव इक चेतनसार । दरव अजीव पंच परकार ।
छहौं दरव भाषे समझाय । काल विना पंचासतिकाय ॥ २७ ॥

सोरठा ।

बहु प्रदेश जिनमाहिं, अस्तिकाय तेई कहे ।
यातैं काया नाहिं, काल एक परदेसकौं ॥ २८ ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

धर्म अधर्म एक चेतनके, असंख्यात परदेस सुजान ।
व्योम[3] अनंतप्रदेस विराजै, लोक अलोक सर्वगतवान ॥
पुद्गल संख असंख अनंतप्रदेशी विछुरै मिलै प्रवान ।
काल एक परदेस अरूपी, तातैं काल अकाय वखान ॥२९॥
कालानू है एक प्रदेशी, मिलन सकति सो कवही नाहिं ।
तातैं काल अकाय बतायौ, अप्रदेश है छदरवमाहि ॥
परमानू है एकप्रदेसी, मिलि बहु भेद खंध है जाँहिं ।
तातैं कायवंत बहुदेसी, नय उपचार होनकी छाँहिं ॥ ३० ॥
अविभागी पुद्गल परमानूं, रोकै जेतौ खेत अकास ।
ताकौ नाम प्रदेश बखान्यौ, तामैं पूरनगुन अवकास ॥
धर्म अधर्म प्रदेस प्रमानूं, कालानूं बहु खंधनिवास ।
जीव अनन्त प्रदेस ठौर दे, धनि सर्वग्यकियौ जिन भास॥३१॥

---

[1] रत्नोंकी राशि । [2] कुँभारका चक्र । [3] आकाश द्रव्य ।

मनहरणं ।

अलवध[२] सूच्छम निगोदियेकी वक्रचाल, पहिले समैमैं लंबा चौरा होय जात है । दूजे समैमाहिं चौरा तीजे समैमाहिं गोल, सोई सवतै जघन्य चेतनकौ गात है ॥ राघौ नाम मच्छ साढ़े वारै कोडि जोजनकौं, दोनौं[३] रोकैं लोक असंख्यात देसघात है । छोटा वड़ा मध्य भेद कैसौई सरीर धरौ, एक परदेस एक जीव न समात है ॥ ३२ ॥

कवित्त[१] (३१ मात्रा) ।

चार दर्व नित भिन्न विराजैं, पुद्गल जीव मिलैं जिह वार ।
सात पदारथ तहां होत हैं, दोय आपसौं नौ परकार ॥
आस्रव वन्धन संवर निर्जर, मोख पुन्य अरु पापनिहार ।
सो सव भेद वखान करत हौं, कछु सरूप सम्यकगुनकार ॥३३॥

छप्पय ।

एक चेतना सार, दोय निहचै व्यौहारी ।
रतनत्रयकरि तीन, अनंतचतुष्टयधारी ॥
पंचपरमपदरूप, काय षट् पालनहारौ ।
सातभंगसौ सधै, आठ कर्मनितै न्यारौ ।
नौ-लवधिवंत दस धरमधर, सो सरूप हिरदै धरै ।
इम जीवतत्वसरधानसौं, दुस्तर भवसागर तरै ॥ ३४ ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

पंच अजीव सुद्ध हैं चारौं, जिनकै कभी विभाव न होय ।
पुद्गल सुद्ध असुद्ध विराजै, सुद्ध अनूगुन पाँचौं जोय ॥
सीत ताप रूखे चिकनैंके, दो रस वरन गंध अवलोय ।
खंध असुद्ध वीस गुन परगट, देखै जानै चेतन सोय ॥ ३५ ॥

---

[१] यह कवित्त मूलसे विशेष है । [२] अलब्धपर्याप्त । [३] दोनोंका अर्थात् अलब्ध्यपर्याप्त निगोदियेका और राघवमच्छका शरीर ।

गीता छन्द ।

मिथ्यात[1] अविरत पंच वारै, पंचवीस कषाय हैं ।
परमाद पंद्रै जोग पंद्रै, वहत्तर दुखदाय हैं ॥
आतमाके परनाम एई, भाव आस्रव नहिं भला ।
वसु करम होनैं जोग आवैं, दरव आस्रव पुदगला ॥ ३६ ॥
जिय राग दोष विमोह अपने, भाव चिकने पगत हैं ।
इस भाववंध निमित्तसेती, करमरज उड़ि लगत है ॥
चेतन प्रदेस पुरान करमनि, एकरस मिलि दिढ़ भये ।
यह दरववंध जथा उदय मद, भाव वहुविध परनये ॥ ३७ ॥

कवित्त (मनहरण) ।

जीव जैसा भाव करै तैसा कर्मवंध परै, तीव्र मंद मध्य भेद लीनैं विसतारसौं । वँधै जैसा उदय आवै तैसा भाव उपजावै, वैसा फिर वँधै किम छूटत संसारसौं ॥ भावसारू[2] वंध होय वंध सारू उदै जोय, उदै भाव चवभंगी साधी विवहारसौं । तीव्रमंद उदै तीव्रभाव मूढ़ धारत हैं, तीव्रमंद उदै मंदभाव हो विचारसौं ॥ ३८ ॥

छप्पय ।

पंच पंच व्रत समिति; गुपति तीनौं थिर पालै ।
वारै भावन भाय, धर्म दस भेद सँभालै ॥
दस आलोचन सुद्ध, पंच चारित वड़भागी ।
जित छुधादि वाईस, भावसंवर वैरागी ॥
तिसकै नहिं लागै करमरज, सो संवर दरवित कहा ।
यह भाव दरव संवर समझि, जुदा जगतसौं हो रहा ॥ ३९ ॥
तप निरवांछक भाव, निर्जरा भावित सोई ।
वँध्यौ करम तब खिरै, निर्जरा दरवित होई ॥

---

[1] इस छन्दमें २९-३० और ३१ वी गाथाका भावमात्र आया है । अनुवाद नहीं है । [2] भावके अनुसार ।

उदै देयकरि खिरै, बुरी सविपाक निर्जरा।
उदै देय बिन खिरै, भली अविपाक सुखकरा॥
सबके अकाम निर्जरा जग–ग्याता सकाम निर्जरा।
अविपाक सकाम करी तिन्हौं, ग्यान घटमैं धरा॥ ४०॥

मनहरण।

रागदोष मोह नाहिं सम्यक सरूपमाहि, सोई भावमोख आप सुद्धभावमई है। प्रकृति प्रदेस थिति अनुभाग बंध चार, सर्वथा विनास भये दर्वमोख भई है॥ परजाय–नै–विचार जीव मोख भयौ सार, दर्वित–नै सदा सिव भई नाहिं नई है। दर्वमोख भावमोख सिद्ध जीव राजत हैं, सो मैं अबै मेरी बुधि ऐसी परनई है॥ ४१॥

भावपुन्य सुभभाव पूजा दान जप तप, भावपाप परिनाम विषय औ कषाय है। दर्व पुन्य साता अठसठ भेद पुग्गलके, दर्वपाप सौ भेद पुग्गल बहुभाय है। दर्व भाव पुन्य पाप सुर्ग नर्कको मिलाप, सबसौं निराला आप यही जीवराय है। एई षट द्रव्य नव तत्त्व सरधान करौ, राग दोष मोह हरौ मोखकौ उपाय है॥ ४२॥

सोरठा।

सम्यक दरसन ग्यान, चारित सिवकारन कहे।
नय व्यवहार प्रवांन, निहचै तिहुंमैं आतमा॥ ४३॥

चौपई।

सम्यक रतनत्रय जियमाहिं। निजें तजि और दर्वमैं नाहिं॥
तातैं तीनौंमैं निहपाप। सिवकारन यह चेतन आप॥ ४४॥

---

१ केवली भगवानके सकाम निर्जरा होती है। २ आत्मा। ३ निष्पाप—पापरहित शुद्ध।

दोहा।

आप आपमैं आपकौं, देखै दरसन जोय।
जानपना सो ग्यान है, थिरता चारित सोय॥ ४५॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जीवादिक भावनिकी सरधा, सो सम्यक निजरूप निहार।
जा बिन मिथ्या ग्यान होत है, जा बिन मिथ्या चारित धार॥
दुर-नै-कौ परवेस जहां नहिं, संसय विभ्रम मोहनिवार।
सुपरसुरूप जथारथ जानै, सम्यक ग्यान अनेक प्रकार॥ ४६॥
जो सामान गहैं विसेस बिन, निराकार दरसन परवान।
जो विसेस जानैं अर्थनिकौं, सो आकार ग्यान परधान॥
संसारी छद्मस्थ जीवकौं, एक काल नहिं दरसन ग्यान।
एक समयमैं देखैं जानैं, केवलरूप अनूपम भान॥ ४७॥

दोहा।

असुभ भाव निरवारकै, सुभुपयोग विसतार।
समिति गुपति व्रत भेदसौं, सो चारित व्यौहार॥ ४८॥

चौपई।

बाहर परनति चंचल जोग। अन्तरभाव समल उपयोग।
दोनौं कियैं बढ़ैं संसार। रोकैं निहचैं चारित सार॥ ४९॥
चारित निहचै अरु व्यौहार। उभय मुकतिकारन निरधार।
हौंहि ध्यानतैं दोनौं रास। कीजै ध्यान जतन अभ्यास॥ ५०॥

मनहरण।

इष्ट औ अनिष्ट जे पदारथ जगतमाहिं, तिनै देखि राग दोष मोह नाहिं कीजियै। विषैसेती उचटाय त्याग दीजिये कषाय, चाह-दाह धोय एक दसामाहिं भीजियै॥ तत्त्वग्यानकौं सँभार समता सरूप धार, जीतके परीसह आनन्दसुधा पीजियै। मनकौं सुवसि आन नाना विधि ध्यान ठान, अपनी सुवास आपमाहिं आप लीजियै॥ ५१॥

अडिल्ल छन्द ।

पैंतिस सोलै षट पन चव जुग एक हैं ।
सात जाप ये अच्छर और अनेक हैं ॥
पंच परम पदरूप सदा मन ध्याइयै ।
रिद्धिसिद्धि है कहा मुकति पद पाइयै ॥ ५२ ॥

मनहर ।

'णमो अरहंताणं' सात 'णमो सिद्धाण' पांच 'णमो आयरियाणं' सात वरन भाव रे । 'णमो उवज्झायाणं' सात 'णमो लोए' ए चार, 'सव्वसाहूणं' पंच पैंतिस लव लाव रे ॥ 'अरहंत सिद्ध आचारज उवझाय साध' सुभ सोलै 'अरहंतसिद्ध' षट् ध्याव रे । 'असिआउसा' ए पंच 'अरहंत' चार 'सिद्ध,' दोय 'ओं' एक सरव अच्छरकौ राव रे ॥ ५३ ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

सात 'णमो अरहंताण' अरु, पंच 'णमो सिद्धाणं' ख्यात ।
सात 'णमो आयरियाणं' अरु, 'णमो उवज्झायाण' सात ॥
चार 'णमो लोए' तुम जानौ, पंच 'सव्वसाहूणं' भ्रात ।
पंच परमपद पैंतिस अच्छर, सुखकारी ध्यावौ दिनरात ॥ ५४ ॥

चौपई ।

चार घातिया कर्म निवास । ग्यान दरस सुखबल परकास ॥
परमौदारिक तन गुनवंत । ध्याऊं सुद्ध सदा अरहंत ॥ ५५ ॥
करम काय नासे सब थोक । देखैं जानैं लोकालोक ॥
लोकसिखर थिर पुरुषाकार । ध्याऊं सिद्ध सुखी अविकार ॥५६॥
दरसन ग्यान प्रधान विचार । व्रत तप वीरज पंचाचार ॥
धरैं धरावैं औरनि पास । ध्याऊं आचारज सुखरास ॥ ५७ ॥

---

१ यह और इसके आगेका कवित्त क्षेपक गाथाका अनुवाद है ।

सम्यकरतनत्रै गुनलीन। सदा धरम उपदेश प्रवीन॥
साधुनिमैं मुख[1] करुनाधार। ध्याऊं उपाध्याय हितकार॥ ५८॥
दरसन ग्यान सुगुन भंडार। परम दिगंबरमुद्राधार॥
साधैं सिवमारग आचार। ध्याऊं साधु सुगुनदातार॥ ५९॥
तन चेष्टा आसन मांडि। मौन धारि चिंता सब छांड़ि॥
थिर ह्वै मगन आपमैं आप। यह उत्कृष्ट ध्यान निहपाप[2]॥ ६०॥
जबलौं मुकति चहैं मुनिराज। तबलौं नहिं पावैं सिवराज॥
सब चिंता तज एकसरूप। सोई निहचै ध्यान अनूप॥ ६१॥

दोहा।

खाना चलना सोवना, मिलना वचन विलास।
ज्यौं ज्यौं पंच घटाइयै, त्यौं त्यौं ध्यान प्रकास॥ ६२॥

मत्तगयन्द सवैया।

आगमग्यान सदा व्रतवान, तपै तप जान तिहूं[3] गुनपूरा।
ध्यान महारथ धारन कारन, होय धुरंधर सो नर सूरा॥
ध्यान अभ्यास लहै सिववास, बिना, भव पास परै दुख भूरा।
कर्म महादिक मैल बड़े बहु, ध्यान सुवज्र करै चकचूरा॥ ६३॥

मनहरण।

नेमिचंद आचारज कहैं मैं अलपश्रुत, कीनौं दर्वसंग्रहकौं सोधौ मुनिराज जी। दूषनरहित गुनभूषनसहित तुम, श्रुत सब पूरन ह्वौ चूरन अकाज जी॥ 'द्यानत' तनक बुधि तापरि बखान करी, बालरीति धरी ढांकि लीजौ गुन साज जी। कुकथाके नासनिकौं बुद्धिके प्रकासनिकौं, भाषा यह ग्रन्थ भया सम्यक समाज जी॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः।

---

[1] मुख्य-प्रधान। [2] निष्पाप-पापरहित। [3] तीनों गुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र।